नाटकमाला सं०

सम्पादक—

शिवराम 'दास' गुप्त

काशी बनारस

Notice.

It should be known to the professional Theatrical companies and Natak mandlies that the writer of this drama has reserved himself all rights of staging this drama and any professional company found acting without the written permission of the writer would be liable to pay the damage

—Publisher

मुद्रक—

बाबू ब्रजभूषण लाल

अग्रवाल प्रेस, तेलियाबाग, बनारस कैंट।

ओम्

कुछ निवेदन

बंग भाषा के रंगमंच पर जो छाप स्वर्गीय डी० एल० राय जी छोड़ गये हैं, वह अमिट है। जबतक बंगाल रहेगा, भावुक बंगाली रहेंगे, बंगला भाषा रहेगी, तबतक डी० एल० राय अमर रहेंगे। उन्हीं नाटककार की प्रमुख कृतियों में से 'मेवाड़ पतन' भी एक है। मैंने उसी पुस्तक को हिन्दी के रंगमंच पर लाने का प्रयत्न किया है। पहले भी मेवाड़ पतन का हिन्दी अनुवाद हो चुका है—पर वह पढ़ने की चीज़ बनकर रही। उसे खेलने के लिये स्टेज पर लाकर देखना पड़ता था, कि मूल नाटक की वह श्री तो रही पर सौरभ उड़गया। समस्त ओज और प्रवाह अस्त व्यस्त होगये। रंगमंच पर वह फीकी सी जचने लगी। साहित्यक सौंदर्य उसमें भलेही हो, मगर रंगमंच पर खेलने जाकर बात बात में अटकना पड़ता था, झिझकना पड़ता था। इसी कारण मैंने केवल रंगमंच को लक्ष्य करके मेवाड़ पतन का छाया अनुवाद किया। भाव लेखक के हैं भाषा मेरी। श्रद्धा और भक्ति के मैदान में चलने वाला पथिक, जब कर्तव्य का कवच धारण करके सेवा को अपना लक्ष्य बनालेता है तो वह किसी आँधी वर्षा की परवाह नहीं करता। वह कर्तव्य है हिन्दी-भाषाकी सेवा। कृति पूज्य की, सेवा भक्त की। अब सफलता ईश्वर के हाथ है। यदि पाठको को इसमे कोई खूबी जान पड़े तो पूज्य नाटककार की है और यदि कोई त्रुटि मिले तो वह इसी 'दास' की ही भूल से सम्भव है।

उपन्यास-बहार-आफिस काशी
१९३३

विनीत—
'दास'

पात्र परिचय
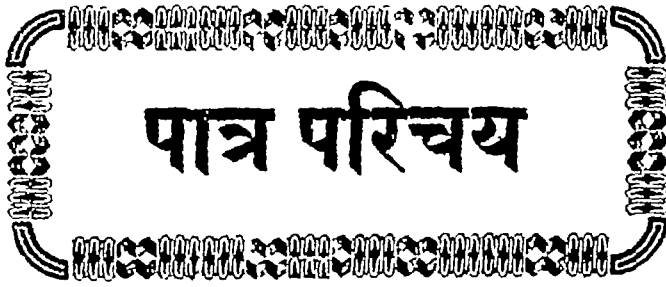
*पुरुष पात्र *

राणा अमरसिंह—महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र, मेवाड़ के राणा।

सगरसिंह—अमरसिंह के बड़े काका, अरुण के नाना।

महावतखां—सगरसिंह के पुत्र—मुग़ल के सेनापति।

अरुणसिंह—महावतखां का भानजा।

गोविन्दसिंह—राणा अमरसिंह के सेनापति।

अजयसिंह—गोविन्दसिंह के पुत्र।

गजसिंह—जोधपुर का राजा।

हिदायतअली—मुग़ल सेना नायक।

जहांगीर—शाहशांह देहली।

शाहजादा खुर्रम—जहांगीर का पुत्र।

अब्दुल्ला—मुग़ल सेना नायक।

हुसेन खाँ, सिपाही, चोबदार, इत्यादि।

* स्त्री पात्र *

मानसी—राणा अमरसिंह की कन्या—विश्व उपसिका।

कल्याणी—महावतखां की पतिभक्ता स्त्री।

नर्तकी, सखियाँ, इत्यादि इत्यादि।

समर्पण

मूलनाटक कार—

स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय की पवित्र स्मृति में !'

सहृदय नाटक कार !

यह "देश का दुर्दिन" आपकेही
"मेवाड़ पतन" की छाया में
विश्राम करने आया है।
आपकी ही चीज़ है।
आपको ही देता हूं।
इसे शरण
में लो,
स्वीकार करो !
तुम्हारा ही—
'दास'
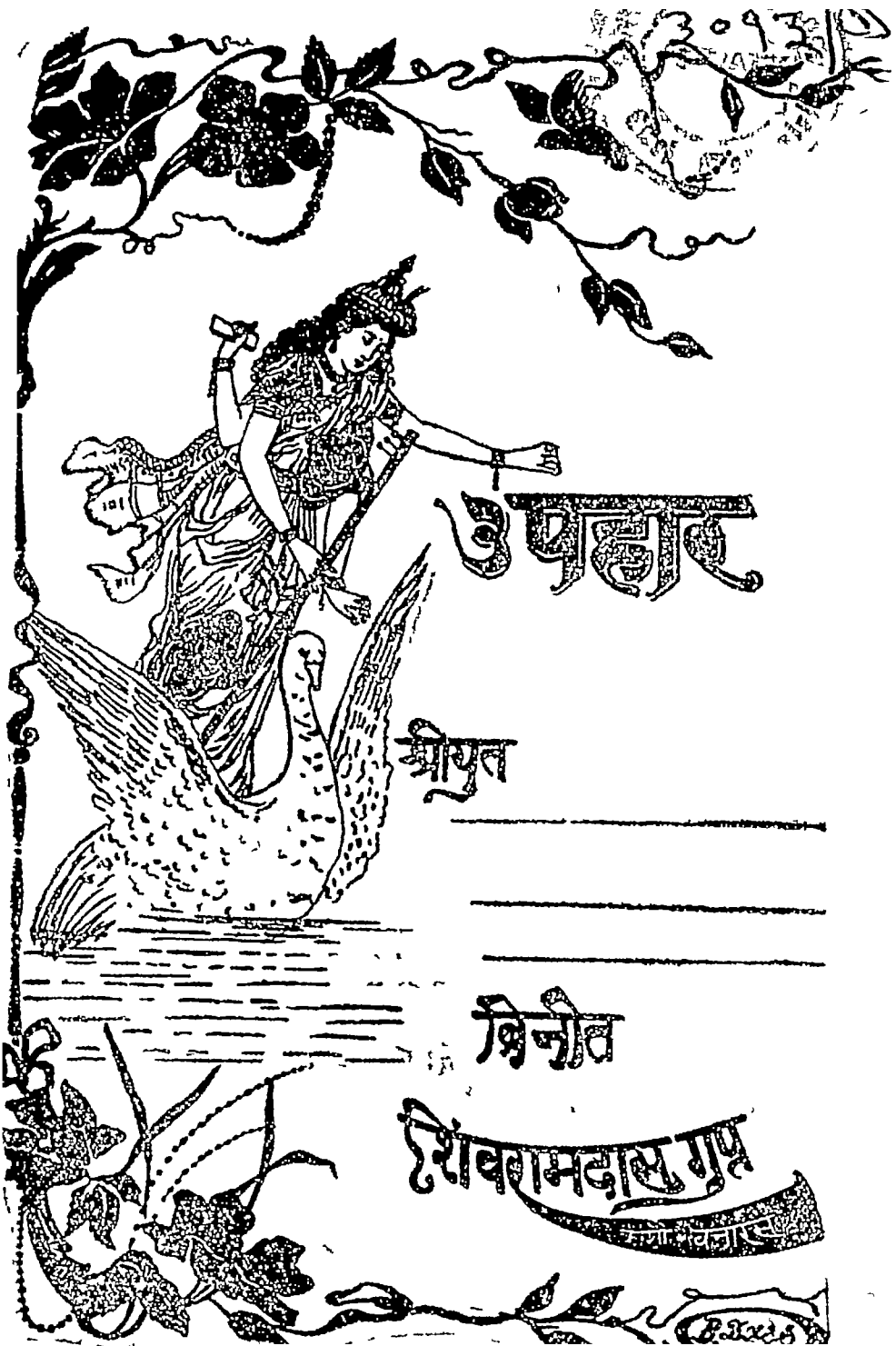
उपहार
श्रीयुत
विनीत
शिवरामदास गुप्त

रङ्ग-मञ्च ।

(सबका स्तुति करते नजर आना)

सब— गाना ।

जय जय जय जय जन्मभूमि जननी ॥ जय०—
जय जय रंजनि, जय अघ गंजनि ।
सम्पति सुमति सुयश सुख करणी ॥ जय०—
जय जन नन्दिनि, बुद्धि प्रबोधिनि ।
जयति जननि जग वीर प्रसवनी ॥ जय०—
जय संजीवनि जन अवलम्बिनि ।
जगत मुकुट जन-दुख-दलनी ॥ जय०—
जय बुदि वरिदि भुवि अभिनंदिति ।
जय त्रिपुंज श्री मातु शिरोमणी ॥ जय०—

(गाते गाते सबका जाना)

राज दर्बार ।

(राणा अमरसिंह और सामंतगण अपने अपने स्थान पर विराजमान है-
सहेलियाँ गाती नाचती हैं)

सहेलियाँ— गाना ।

आली क्या छाई मंडप की बहार ॥
शोभित छवि रबि अद्भुत शान ।
तोरण पल्लव नवबीच द्वार ।
सोहत सुरपुर जिमि इन्द्रलोक ।
पावन भावन हिय बीच लोक ।
आज उमंग जिया भारत तान ॥
सानिधप निधपम धपमग पमगरे ॥

(गाते नाचते सबका जाना)

राणा०—(सब सामंतगणों को संकेत कर के) तुम राज्य के संचालक हो, तुम मेरे सहायक हो ! तुम मेवाड़ के स्तम्भ हो, तुम राज्य-सेना के नायक हो ! बोलो, कहो, जब मुग़लों की जबरदस्त सेना मेवाड़ मे पहुँच गई है, बादलों की कालीघटा आकाश पर छा गई है, तो हम सबको क्या करना चाहिये ?

जयसिंह—वही, जो हमारा कर्त्तव्य और कार्य है ?

राणा०—क्या ?

जयसिंह—देश पर बलिदान हो जाना, शत्रुओं को मारना या मर जाना।

राणा०—एक चींटी और हाथियों के झुंडका मुकाबिला करे ? छोटा सा मेवाड़ और विराट मुग़ल सेना से लड़े ?

जयचद—अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी, काठ के समूह को भस्म कर देती है।

राणा०—क्या कहते हो जयचंद ! बौना होकर आकाश छूने की आशा दुराशा है। तुम किस बल पर विजय का डका बजाना चाहते हो ?

कृष्ण०—ज्ञानियों की शूरता पर, राजपूतों की वीरता पर और स्वर्गीय महाराणा के अशिर्वाद पर।

राणा०—देखो, आवेग मे न आओ। मनुष्य अनुताप से पिड़ीत होकर अपने शरीर को चीन कर सकता है, पर आकाश के व्रज-पात से, भूकप के उत्पात से, मुकाबिला नहीं कर सकता ?

कृष्ण०—महाराज ! स्वाधीनता और गौरव की रक्षा के लिये हमें मोम की नहीं, लोहे की छाती और वज्र का हाथ बनाना होगा।

राणा०—कृष्णदास ! धधकती हुई आग को जल का एक बूँद शान्त नहीं कर सकता। डूबते हुए जहाज को टूटा हुआ जंजीर नहीं बचा सकता। थोड़े से 'कर' के लिये शान्ति का नाश करना, धन-जन से भरे गृह का विनाश करना, बुद्धिमानी नहीं।

शंकर०—'कर' देंगे ? किसे ?

जयसिंह—मुग़लों को ? देश द्रोहियो को ?

कृष्ण०—भगवान रामचन्द्र के वंशधर, आधिनता स्वीकार करेंगे ?

शंकर०—क्षत्रियो का मान, गौरव, लज्जा के सागर डुबा देंगे ?

कृष्ण०—वीरता के गर्भ में जिसने जन्म लिया, शूरता का गोद में जो पला, आज़ादी की गोद में जा खेलता रहा, जिसके मुख पर संकट में हंसी के बदले उदासी न आई, वह कायर पुरुष की भांति पराधीनता की बेड़ी पहन ले ? नहीं, ऐसा होना असम्भव है।

राणा०—कृष्णदास ! रात्रि में चमकने वाले तारों का आवेश में आकर दिन में तपते हुये सूर्य से युद्ध करना, अपने हाथों अपना विनाश करना है। गंगा की तीव्र प्रवाह मे बैर भाव से तैरना, जीते जी अपना प्राण खोना है।

केशव०—महाराज ! तलवार और छुरी का कार्य एक है। पूर्वजों का ख़्याल कीजिये।

राणा०—केशवसिंह ! बीते हुये दिनों को याद करके, खोये हुए रत्नों का अभिमान करके, पास का वैभव नष्ट करना, दरिद्रता को मोल लेना है। साहस का वह समय और था।

शंकर०—परन्तु कर्त्तव्य पालन के लिये दरिद्रता का भोगना सुखकर है। पराधीनता के ऊंचे भवन से दरिद्रता की कुटिया बढ़कर है।

राणा०—यह केवल एक अनुभूति है। बहुत दिनों के बाद फूले

फले मेवाड़ को उजाड़ देना, एक मुद्रा के लिये अपना सर्वस्व खो देना बेवकूफी है।

केशव०—जिसके पूर्वजों ने मेवाड़ की रक्षा के लिये, अपना सब कुछ समर्पण कर दिया, उसके वंशज मुग़लों की आधीनता स्वीकार करेंगे ?

राणा०—तुम्हारी बुद्धि मंद होगई है। आकाश पर धूल फेंकना अपने मुंह पर डालना है। पहाड़ उठाने की चेष्टा करना अपनी मूर्खता का परिचय देना है।

केशव०—भारत क्या कहेगा ?

राणा०—जब समस्त भारत ने मुग़ल सम्राट के आगे सर झुका दिया है, तो मेवाड़ का सन्धी करना क्या बुरा हुआ ?

शंकर०—स्वर्गीय आत्मायें, किस दृष्टि से देखेगी ?

राणा०—वे हमारी बुद्धिमानी और नीति की सराहना करेंगी ? जाव, मुग़ल दूत को........।

(गोविन्द सिंह का आना)

गोविन्द०—ठहरिये, मेवाड़ के महत्व को धूलि की भाँति आकाश में न उड़ाइये। महात्माओं की पवित्र कीर्ति रेखा को, अपने हाथों से मलकर न मिटाइये।

राणा०—कौन ? गोविन्दसिंह जी !

गोविन्द०—हाँ आपका सेवक, स्वर्गीय राणा के साथ जंगल और पहाड़ों में फिरने वाला सहचर।

राणा०—क्या कहते हो ?

गोविन्द०—यही, कि स्वर्गीय देवता की कुटिया को भोग विलास के लिये पराधीनता का रंग भवन न बनाइये। पूर्वजों की पवित्र भूमि पर अपवित्र यवनों का बीज न उगाइये।

राणा०—गोविन्द सिंह जी ! काल और समय देख कर चलना बुद्धिमानी है। लकीर के फकीर बन कर अपने को किसी दल दल में फँसाना नादानी है।

गोविन्द०—पुरुषत्व, समय के पहले कर्त्तव्य का ध्यान रखता है। जो आज़ादी का पुजारी, सत्य का उपासक है, वह पराधीनता के बदले प्राण देना पसन्द करता है। तन में न हो पौरूष पर सत्य मे जान है। क्षत्री 'कर' देगा नहीं मेवाड़ कि यह आन है। प्राणो के भय से देश बेंच दे वह हम नहीं। देश की स्वाधीनता पर मरने का है ग़म नहीं।

कृष्ण०—धन्य हैं ! वृद्धा अवस्था में भी देश-भक्ति की ऐसी प्रबल धारणा रखना आपही का काम है।

गोविन्द०—सामन्त गण ! विलासता की नींद से आप लोग जागिये और राणा के इस अपयश की रक्षा करिये। धन जाकर पुनः लौट सकता है, पुत्र मर कर दूसरा पैदा हो सकता है, राज्य बिगड़ कर फिर सुधर सकता है, किन्तु कीर्त्ति यश मिटकर, सोने चाँदी के लुटाने पर भी पुन· लौट नहीं सकता।

जय०—धन्य है। आपकी वज्र-ध्वनि ने मेरे रग रग में आत्म-गौरव का संचार कर दिया।

शंकर०—घोर अंधकार मे विजली की तरह गर्जन करने वाली

आपकी तीव्र वाणी ने, आलस्य को ठोकर मार कर भगा दिया।
हम कौन हैं, कर्त्तव्य क्या है, इसका पाठ हमे भलीभांति पढ़ा दिया ?

गोविन्द०—तो क्रुद्ध सिंह की भाँति गर्जन करते हुये उठो ?

मन में हो देश सेवा; हाथ हो तलवार पर।
मुखसे ऊफ निकले नहीं, शत्रुओ की वार पर॥
देश हित देशवासी, वज्र बन कर गिर पड़ो।
प्राण की बाज़ी लगा, मेवाड़ की रक्षा करो।

शंकर-तैयार हर तरह से, मैं क्षत्री का संतान हूँ।
जय०—धर्म का हूँ खंग तो सत्य का मै वाण हूँ॥
कृष्ण०-साहस का हूँ हाथ तो बीरता की जान हूँ।
केश०—टुटूँगा वज्र बन के, भारत की शान हूँ॥

(सब का खड़े हो जाना)

राणा०—गोविन्दसिंह जी ! ठहरिये। जाव, मुग़ल दूत से कह दो, कि तुम्हारा उत्तर संग्राम है।

गोविन्द०—नहीं राणाजी ! आप उदय सागर के प्रसाद कुञ्ज में विलास का रंग देखिये......।

राणा०—(खड़े होकर) कदापि नहीं।

बाधक जो हो देश में उस आनन्द को धिक्कार है।
धिक है उस जीवन को जो विलास का अवतार है॥
भूल थी समझा जो अपकार को उपकार है।
वो थी आलस्यता, यह अधिपत्य अधिकार है॥

(सब तलवार से तलवार मिलाकर गाते हैं)

गाना।

सब—धर्म देश है कर्म देश है-देश को भूल न जाओ।
सच्चे हो संतान देश के-काम देश के आओ॥ धर्म०—
देश प्रेम वह कल्पवृक्ष है जिसके उज्वल फूल हो तुम।
तन मन धन सब अर्पण करके माता-मान बचाओ॥ धर्म०—
देश का दुर्दिन है कठिन दिन कर दो वीरो! सब
मिल छिन्न भिन्न।
जन्म सुफल है देश-भक्ति में जननी पर बलि जाओ॥ धर्म०—
(गाते गाते सब का जाना)

नदी के तीर पर बाग़।

(मानसी बैठी जल निहार रही है सखियाँ दूर दूर पर बैठी गारही हैं)

सखियाँ— गाना।

मीठी मीठी मीठी लहरें।
उठत तरंग रंग लेत हिलोरें॥ मीठी०—
मधुर पवन रस कर अठखेलियाँ।
लिपट रहीं हिलमिल जल-कनियाँ।

युवती नैनन अंग निहारे।
प्रभाकिरण कित आवत भोरे॥ मीठी०—
खिली हैं प्रेम से कलियाँ तमाम यौवन की।
गुँधा है हार कसर है सजन की मोहन की॥
करो न सामने युवती के बात प्रीतम की।
हँसी में रूठ न जाये कहीं कली मन की॥
युवती नैनन अंग निहारे।
प्रभाकिरण कित आवत भोरे॥ मीठी०—

१ सखी—राजकुमारी! इस बहती हुई नदी मे इतने ग़ौर से क्या देख रही हो?

मानसी—सखी! मैं यह देख रही हूँ, कि जब नदी की सुन्दर तरंगे, प्रेम और स्नेह से हँसती खेलती, एक दूसरे से लिपट कर जल को उछालती हुई, मधुर स्वरो मे प्रेम का गीत गा रही हैं। तो हम मनुष्य जो इनसे अधिक ज्ञान और बुद्धि रखते हैं, क्यों नहीं प्रसन्न रहते?

२ स०—यह मनुष्य का दोष है।

मानसी—वह कौन सा दोष है? जिसके कारण हम अपनी जाति मे शुद्ध-प्रेम और निष्कपट मित्रता नहीं रख सकते?

१ स०—मनुष्य होने का।

मानसी—क्या मनुष्यों का यही स्वभाव है? मैं पूछती हूँ कि यही निर्मल जल यदि किसी पात्र में बंद करके इसका प्रवाह रोक दिया जाय, तो क्या होगा?

२ स०—उसकी निर्मलता नष्ट हो जायगी। उसमे दुर्गन्धि उत्पन्न होगी।

मानसी—और वह कर्तव्य से विचलित हो जाने का कारण होगा?

२ स०—अवश्य।

मानसी—इसी तरह यदि स्त्री और पुरुष भी अपने अपने धर्म कर्तव्य का पालन नहीं करते तो घृणा के योग्य हो जाते हैं।

१ सखी—तो स्त्रियो का कर्तव्य क्या है?

मानसी—सखियो! इस संसार में उपकार और सहानुभूति, प्रेम और शन्ति की संचालिका स्त्रियाँ ही हैं। स्त्रियों के ही शिक्षा और उपदेश से मनुष्य, मनुष्य बनता है। हमें चाहिये कि हम अपने शब्दों और व्यवहारों से मनुष्य को उपकारी और धर्मात्मा बनायें।

२ स०—वाह! वाह! क्या कहना।

१ स०—कैसा अच्छा है, यह धर्म और कर्तव्य का गहना।

सखियाँ— गाना।

जगत में नारी गुण की खान।
धर्म सुधारे कर्म निहारे करें प्रेमरस पान॥ जगत०—
शील स्नेह से गले लगायें—
प्रेम शान्ति का स्रोत बहायें—
जन्म दियो प्रहलाद भक्त सों।
दोनों कुल की मान॥ जगत०—
देश समाज की हैं उपकारी।
सेवा तप जीवन है नारी॥

गुण चरित्र से मन पवित्र से—

हो जाती बलिदान ॥ जगत०—

(गाते गाते सब का जाना, अजय का आना)

अजय—मानसी !

मानसी—आओ प्रभात के सूर्य ! रात्रि के चन्द्रदेव ! अंधकार के प्रकाश, आओ। मैं समुद्र की तरंग, सूर्य की किरण और नेत्रो की ज्योति की भांति तुम्हारा स्वागत करती हूँ।

अजय—मानसी ! मुख की प्रसन्नता को, लज्जा का परदा नहीं रोक सकता। भूले हुए मनुष्य के पाने की अभिलाषा मे ऐसी ही प्रतीक्षा की जाती है।

मानसी—हाँ अजय, मैं एक साधक की भाँति जल पर नज़र गडाये तुम्हारी ही ध्यान कर रही थी, कि धीरे धीरे चन्द्र-बिम्ब की भाँति जल मे तुम्हें प्रवेश करते देख, मैं डरी, सहमी और भय से सकुचाई। अकस्मात आँखें हटीं, समाधि टूटी, ध्यान भंग हो गया। आशा और भय, लज्जा और संकोच की बनी हुई घूंघट मे छिपी हुई नज़र, धीरे धीरे इस ओर घूम रही थी, कि सामने तुम आ गये। सामने तुम्हे उपस्थित देख कर मैं, इस जल से भी अधिक लज्जा से पसीने पसीने हो गई।

अजय—मानसी ! आज तुम्हारी प्रसन्नता आँखो से निकलकर रूप पर बिखर रही है।

मानसी—इसका कारण जानते हो ?

अजय—नहीं।

मानसी—महाजन को डूबा हुआ ऋण और मनुष्य का खोया हुआ रत्न मिल जाता है, तो वह खुशी में उन्मत्त हो जाता है। फिर यदि पानी मे खोई हुई वस्तु एक खोजे जानेवाले को मिल जाय तो उसके प्रसन्नता की सीमा नहीं रह जाती।

अजय—मानसी! क्या तुम्हारी प्रसन्नता का कुछ अंश......

(चुप हो जाता है)

मानसी—हाँ हाँ कहा, अजय! क्या कहना चाहते थे?

अजय—मानसी! मैं क्या कहना चाहता था, भूल गया। लोग कहते हैं कि पुस्तकावलोकन से भूला हुआ पाठ पुनः याद हो जाता है। किन्तु मैं देखता हूँ कि तुम्हारा मुखमंडल देखने से याद किया हुआ पाठ भी भूल जाता हैं।

मानसी—ऐसी निराशा?

अजय—तुम जानती हो, मैं तुमसे कितना प्रेम करता हूँ?

मानसी—प्रेम करते हो, यह जानती हूँ, परन्तु कितना प्रेम करते हो, यह मैं नहीं जानती। यदि जान जाती तो.........

अजय—तो क्या तुम्हारा हृदय भी उतना ही प्रेम करता?

मानसी—अजय! जलाधर के तरंगो को गिन सकते हो? उसका जल कितना निर्मल, कितना पवित्र है, किसी से तुलना दे सकते हो?

अजय—नहीं।

मानसी—तो मुझसे पूछने से पहिले इस जलाधर से पूछो। देखो यह तुम्हे क्या उत्तर देता है।

अजय-वह कहेगा केवल देख सकते हो, परन्तु समझ नहीं सकते।

मानसी—फिर तुम मुझसे क्यों पूछते हो, कि मैं कितना प्रेम करती हूँ।

अजय—मानसी! यह मनुष्य का स्वभाव है? और यह प्रश्न प्रेम का मूल मंत्र है तथा जीवन की उपासना है।

मानसी—क्या कहते हो अजय?

अजय—यही, कि समुद्र सूखकर भर सकता है, संसार जन-हीन होकर नवीन सृष्टि उत्पत्ति कर सकता है। किन्तु एक प्रेमी का हृदय इस उत्तर से भर जाय? असम्भव है।

मानसी—और फिर भी मनुष्य प्रेम करता है?

अजय—इस लिये कि वह विवश है।

मानसी—किन्तु तुम जानते हो, कि इस प्रकार के प्रश्न से एक अबला के मन मे कैसी अशान्ति पैदा होती है?

अजय—आह! मानसी, मैं क्या करूँ? मेरे विश्वास के ऊपर तुम्हारे मौन-व्रत ने आतंक का परदा डाल दिया है। वह कहता है, कि तुम्हारा प्रेम किसी और पर है।

मानसी—हाँ, है। मेरा प्रेम हरेक मनुष्य मात्र पर है।

अजय—आह! स्नेहहीन, कठोर हृदया रमणी और प्रेमिका?

मानसी—तो क्या तुम यह चाहते हो, कि मैं केवल एक ही से प्रेम करूँ? सारे हृदय पर अकेले तुम्हीं अधिकार रखो?

अजय—अवश्य! स्त्री का ऐसा स्वभाव पुरुष कभी सहन नहीं कर सकता।

मानसी—अजय ! प्रेम गंगाजल की तरह पवित्र है। प्रेम वह मेघ है, जो मित्र शत्रु दोनों के खेतों पर समान रूप से बरसता है। प्रेम वह चन्द्र है, जो रात्रि मे एक ही घर को नहीं, सारे संसार को अपने प्रकाश से आलोकित करता है।

अजय—बस, मानसी बस ! प्रेमी हृदय को अपने शब्दो की छुरी से टुकड़े टुकड़े न करो।

मानसी—अजय ! असन्तुष्ट न हो। परमात्मा ने मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करने के लिये ही पैदा किया है। यदि परमात्मा की आज्ञाओं का पालन करना अपराध है, तो मुझे दंड दो, मैं सहन करने को तैय्यार हूँ।

अजय—दंड और तुम्हें ?

मानसी—तुम पुरुष हो, योद्धा हो, तुम्हारा हृदय रणक्षेत्र की मिट्टी से बना है, कठोरता के रस से परिपुष्ट है। तुम्हारी दृष्टि मे अबला के आँसू आनन्द के मोती हैं। मनुष्यों की हत्या तुम्हारा कर्तव्य है। तुम दंड दे सकते हो ?

अजय—मानसी ! मानसी !! मैं अब तक केवल एक प्रेमी पुरुष था और पुरुषों ही की भाँति मुझ मे संदेह था। मैंने नहीं समझा था, कि एक अबला का प्रेम एक महात्मा के जीवन की भांति होता है। मैं अपने शब्दों को वापस लेता हूँ।

मानसी—नहीं अजय..........

अजय—रमणी ! वास्तव मे तुम समुद्र हो, तुम्हें कोई अशुद्ध और अपवित्र नहीं कर सकता। यह मेरी भूल थी जो उस

वायु को, जो सारे जीवो को जीवित रखता है, केवल अपने आधीन बनाना चाहता था। बस, अब मैं कुछ नही सहूँगा मुझे विदा दो ?

मानसी---विदा ? कहाँ जा रहे हो ?

अजय—वहाँ ! जहाँ के लिये क्षत्री पैदा हुए हैं और जो उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

मानसी—कहाँ ?

अजय—युद्ध मे !

मानसी—कब आओगे ?

अजय—यह नही कह सकता। रणक्षेत्र में जानेवाला सैनिक, जाकर आने की आशा भी नहीं रखता। जहाँ जीवन और मृत्यु का संग्राम हो—जहाँ की वेदी बलिदान के लिये बनी हो—वहाँ से लौटकर आने की आशा दुराशा है।

मानसी—किन्तु मुझे विश्वास है, कि तुम अवश्य लौटोगे।

अजय—और यदि नहीं लौटा,.........

मानसी—तो मुझे बड़ा दुःख होगा।

अजय—मानसी ! माता अपने पुत्र को अपनी ममता भरी छाती से लगा कर विदा करती है, पिता पुत्र को आशीर्वाद देकर विदा करता है। मै केवल पुत्र हूँ; मेरी कोई पत्नी नहीं, कि मैं प्रेम के दुख-सुख का स्वाद जानता। प्रेम के मधुर शब्द से मरते समय भी अपने हृदय को शीतल करता।

मानसी—आह ! अजय, तुमने भरे हुए घड़े को ढलका देना ही

उचित जाना? अच्छा जाओ अजय। तुम क्या करोगे, मैं क्या करूँगी, दोनों का धर्म क्या है, ईश्वर जानेगा।

अजय—और तुम्हारा हृदय भी जानेगा?

मानसी—अजय! अन्याय और अत्याचार को दूर करने के लिये युद्ध करना भी अनिवार्य है। किन्तु यह बड़ी ही निर्दयता का काम है, इससे अपने को पवित्र रखना। मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है।

अजय—मुझे शिरोधार्य है। (प्रस्थान)

मानसी—गये, एक शुभ समाचार की भाँति आये, कुछ देर कानों में गुंजायमान रहे, फिर विस्मृति की भाँति चले गये। उन्होने कहा—'मेरे कोई पत्नी नहीं, कैसी वेदना पूर्ण आह थी। कितने करुण शब्द थे। ईश्वर! युद्ध में मरने वालों का क्या परिणाम होगा? उनकी स्त्रियाँ, माताओं का जीवन कैसा होगा? प्रभो! क्रोध में क्षमा दो। कठोरता में दया दो। द्वेष मे स्नेह की धारा बहा दो। निर्दयता में सेवा, सहानुभूति का बीज उगा दो। अजय! अजय! रणक्षेत्र में रक्तपात करना तुम्हारा कर्तव्य है, तो घायलों की सेवा सुश्रुषा करना हमारा कर्तव्य। चलो, तुम वहाँ अपना कर्तव्य पालन करो, मैं अपना कर्तव्य निबाहूँगी।

(जाना)

सगर सिंह का भवन ।

(सगर सिंह का अपनी प्रशंसा करते हुये आना)

सगर०—लाठी से न सोंटा से नहीं कलम दुइधार से ।
मारते हैं वीर बहादुर बात की तलवार से ॥

सूम का मन दौलत में, कामी का मन लुगाई में । सती का मन पति मे, क्षत्री का मन लड़ाई मे । मेरे पिता पर पिता कहते थे, कि लोहे की तलवार चलाना सहल है, पर वाणी की मार से परास्त करना मुश्किल है । कम अक़ल वह है, जो हथियार से लड़ता है । आधी अक्ल उसमे है जो कलम से प्रहार करता है । और पूरा अक़्मन्द वह है, जो बातों से वार करता है । वात भी सोलहो आने पक्की है । तलवार का जख़्मी स्पताल मे दवा से अच्छा हो सकता है, कलम का मारा हुआ आलोचना लिख कर दिल को तसल्ली दे देता है, पर बात का मारा हुआ तो चिल्लू भर पानी में डूब मरता है । (अरुण सिंह बालक का तलवार घुमाते हुये आना)

अरुण०—कभी नहीं, झूठ, गलत । वीर बातो से नहीं तलवार से संसार मे विजय प्राप्त करते हैं ?

सगर०—तू अज्ञान है । शरीर पर विजय लोहे की तलवार से मिलती है, पर मन और आत्मा को वश मे करने की भाषण में ही

शक्ति है। व्याख्यान और भाषण से ही आज विश्वविद्यालय और अनाथालय का स्थापन है। वाणी के ही प्रभाव से आज चारो ओर राष्ट्रीय आन्दोलन है।

अरुण०—किन्तु इन सब की मर्यादा भी तलवार के ही हाथ है। तलवार के बल से ही हत्यारों को फाँसी और राजा का चलता राज्य है।

सगर०—तू हैवान है। यदि आज न्यायाधीश की आज्ञा पलट जाये, तो हत्यारें की गर्दन पर चलती हुई तलवार भी रुक जाये। तलवार के पहिले चलती हाकिम की बात है। बात के कारण देश मे हो रहा प्रतिघात है।

अरुण०—आग लगी हो घर मे तो तेल से नहीं, पानी से बुझती है। विद्रोही करते हैं उत्पात, तो यह तलवार ही शान्त करती है।

लड़ने वाले खड्ग से वीर पुरुष कहलाते हैं।
कायर हैं वे गीदड़, जो बात की रोटी खाते हैं॥

सगर०—क्या बके जाता है?

भाषण से ही होता है वीरत्व का संचार प्रचार।
वाणी के बल से रण में देखो चलती है तलवार॥
वाणी का बल देव-बल, खड्ग-बल है हिंसा।
हार होती जग में उसकी, जो करता प्रतिहिंसा॥

अरुण०—ह: ह: ह: !

लोभ में पड़कर बूढ़ी वाणी क्यों न करे प्रशंसा।
कूप में गिरकर काहिल बोले पूरी हो गई मंशा॥

सगर०—मेरा नाती और ऐसा क्रूर !

अरुण०—मेरें नाना और वीरता से दूर !

सगर०—नाती और नाना की बात काटे ?

अरुण०—झूठ और सच को डाँटे !

सगर०—पागल ! नाना का धर्म है कि नाती को सुमार्ग पर चलाये।

अरुण०—तो नाती का भी कर्म है कि क्षत्री का नाम न डुबाये।

सगर०—क्या क्षत्री का कर्म है हत्या करना।

अरुण०—नहीं तो क्या दूसरों का गुलाम बनना ?

सगर०—गुलाम ?

अरुण०—बेशक ! जिस गौरव के लिये पूर्वजो ने अपनी जान दे दी, राणा अमरसिह ने खून की नदी बहा दी, उसे आपने स्वार्थ के हाथों बेंच दिया।

सगर०—मूर्ख ! घोड़े से गदहा बन सकता है, पर गदहा पीटे घोड़ा नहीं हो सकता।

अरुण०—लेकिन शेर कभी गीदड़ नहीं बन सकता।

सगर०—नाना के वचन की यह अवहेलना ?

अरुण०—हिन्दू वर्ण और मुस्लिम के साथ रहना ?

सगर०—इसलिये कि मुसलमानों के धर्म और विचार हिदुओ से अच्छे हैं।

अरुण०—कभी नहीं।

सगर०—बराबर। आज यदि मुसलमानों की संख्या सम्प्र-

दायिक झगड़े मे कम हो जाये तो कल वो हिन्दू से मुसलमान बना लेंगे ? और यदि हिन्दुओ की तायदाद घट जाये तो एक मुसलमान भी हिन्दू न हो सकेंगे ।

अरुण०—तो ?

सगर०—तो मुसलमानो का धर्म गंगा की धार है । इसीलिये मुसलमानो की जीत और हिन्दुओ की हार है । देख, एक बार जो हिन्दू मुसलमान हो जाते हैं, उसके लाख प्रयत्न करने पर भी हिन्दू लोग पुनः उसे मुसलमान से हिन्दू नहीं बनाते हैं ।

अरुण०—तो यह हिन्दुओं की भूल है ।

सगर०—जभी तों मुसलमान हिन्दुओं के प्रतिकूल हैं । इसी कारण से महिपति सिह हिन्दू से मुसलमान हो गये और चेष्टा करने पर भी अबदुल्ला 'सैयद' से 'सिंह' न हुये ।

अरुण०—छीः ! छीः ! आज हिन्दू इतने गिर गये ? धिकार है आपकी बुद्धि पर ।

सगर०—अबे ! तू तो सभो के साथ मुझे भी धिक्कार रहा है ।

अरुण०—इसलिये कि आपका पतन होता जा रहा है ।

सगर०—क्या कहा पतन ? ठहर तो चांडाल !

(मारने को बढ़ता है ।)

अरुण०—देखो, कौवा चला हंस की चाल ।

(अबदुल्लाखाँ का आना)

अबदुल्ला०—हैं......हैं......यह कैसी तितर बटेर की लड़ाई ? नाना नाती मे कैसी हाथा पाँई ?

सगर०—इस बन्दर की है शामत आई ?

अबदुल्ला०—जाने दीजिये राणा जी! गुस्सा हराम होता है। लड़का जब बड़ा हो जाये हैं तो उस पर हाथ न उठाना चाहिये।

सगर०—खैर आपके आजाने से मैं एक हत्या से बच गया ? परन्तु आपने मुझे राणा क्यो कहा ?

अबदुल्ला०—इसलिये कि शहंशाह ने आपको राणा बनाया है।

सगर०—खाँ साहब ! धूल से रस्सी न बटिये। भला मै कहाँ का राणा हूँ ?

अबदुल्ला०—इस मेवाड़ के। शाह के हुक्म से मै आपको लेने आया हूँ।

अरुण०—वाह ! छछुन्दर के सर पर चमेली का तेल।

सगर०—तू फिर बीच मे बोला नामाकूल ? (मारने बढ़ता है)

अरुण०—देखिये देखिये, बिल्ली मूसा को झपट रही है।

अबदुल्ला०—राणा जी ! जाने दीजिये, गुस्सा हराम है।

सगर०—हैं ! आपने फिर राणा कहा ?

अबदुल्ला०—कहा क्या, आप सोलहो आने हैं। शहँशाह का हुक्म हैं, कि आज ही आप चितौर चलें।

सगर०—यह क्यों ?

अबदुल्ला०—वही आपकी राजधानी है।

सगर०—तो अमरसिंह की राजधानी ?

अबदुल्ला०—उनकी कैसी राजधानी। अजी, वह जबर्दस्ती गद्दी से उतार दिये जायेंगे।

सगर०—तो क्या मुझे गद्दी के लिये लडना होगा ? नहीं नही साहब ! मैं ऐसे राणा बनने से बाज़ आया ?

अरुण०—सिंह का नाम सुनते ही गीदड़ ने दुम दबाया ?

सगर०—हैं ! तू फिर बोला ?

अरुण०—सय्यद साहब देखिये, छछूँदर साँप से लड़ना चाहता है ?

अबदुल्ला०—राणा साहब ! जाने दीजिये, जाने दीजिये। बालक है, अज्ञान है।

सगर०—पर मेरी तो काटता कान है।

अबदुल्ला०—अच्छा अब आप चलिये, देर हो रही है।

सगर०—सुनिये सय्यद साहब ! यों तो मैं लड़ने से नहीं डरता। पर कहीं जीव हत्या न हो जाय, इसलिये मैंने लोहा छूने की सौगंध खाली है।

अबदुल्ला०—तो आपको लड़ना न पड़ेगा। सिर्फ राणा बन कर चित्तार मे रहना पड़ेगा ?

सगर०—और यदि अमरसिंह ने चित्तौर पर चढ़ाई कर दी।

अबदुल्ला०—जब उन्होंने आज तक चढ़ाई नहीं की तो अब क्यों करेंगे।

सगर०—क्या खूब ! बिल्ली ने मूसा को अब तक पकड़ा नहीं तो पकड़े ही गा नहीं। साँप ने अगर पहले नहीं काटा है, तो अब काटेगा ही नहीं।

अबदुल्ला०—अच्छा तो उसका भी बन्दोबस्त हो जायेगा।

सगर०—तो जब बन्दोबस्त हो जायगा, तब बन्दा यहाँ से क़दम बढ़ायेगा ?

अबदुल्ला०—अच्छा, बादशाह सलामत के पास तो चलिये। यह बातें उनसे गुज़ारिश की जायगी।

सगर०—ख़ैर, मैं बादशाह सलामत के पास तो चलता हूँ। लेकिन जबर्दस्ती मुझे राणा बनाना शाह की बड़ी बेईंसाफी है।

(दोनों का जाना)

अरु०—हा ईश्वर ! मनुष्य कितना लोभी और स्वार्थी है ? सच है, घर का भेदी लङ्का ढाहें—घर की फूट राज्य नशाये।

गाना।

दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग़ से।
इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से॥
गुन्चा न बचा ख़ार तलक हाय! लूट से।
मेवाड बाग उजडगया आपस की फूट से॥
माया ने जाल बिछाया, भरमाया, लुभाया
तू मूरख क्यों ललचाया।
मोह लोभ ने तुझ को घेरा, छाया चारो ओर अँधेरा।
पर धन को कहता तू मेरा—इस दुनिया में कबतक फेरा॥
है चलती फिरती छाया.. ....माया०—

(गाते गाते जाना)

अङ्क १ दृश्य ४

खेमा ।

(हिदायत खाँ का अपने ख़ेमा में बैठे नजर आना)

हिदायत०—दुनिया और दुनिया की हर एक तवारीखें एक ज़बान से कहती है, कि रात और दिन का मेल नहीं होता। एक दिल पानी और तेल नहीं होता। फिर ये राजपूत, जो बुत-परस्ती का जामा पहन कर हमारे क़ौम और दीन के जानी दुश्मन हैं, क्यों न साँप की तरह कुचल दिये जाँय। क्यों न इनकी जड़ काट दें, जो फूलने पर अपनी शाखें न फैलायें।

अजाँ मसजिद में हम देते तो यह घण्टा बजाते हैं।
कहें अल्लाह अकबर हम, तो ये बम् बम् सुनाते हैं॥
करें सिज़दा हम पश्चिम तो ये पूरब सर झुकाते हैं।
खुदा की शान गीदड़ भी, सिंह को आँखे दिखाते हैं॥

(एक सिपाही का घबराये हुये आना)

सिपाही—हजूर ! हजूर ! ग़ज़ब हो गया।

हिदायत०—क्यों, क्या हुआ ?

सिपाही—शाही फौज के क़दम उखड़ गये।

हिदायत०—तू झूठा है, मक्कार है। दीवाने! हवास से बातें कर।
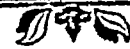
सिपाही—हजूर ! मैं ठीक कह रहा हूँ । अब की लड़ाई में...।

हिदायत०—राजपूत हार गये ?

सिपाही—जी नहीं ! शाही फ़ौज के छक्के छूट गये।

हिदायत०—अरे बेवकूफ ! राजपूत और लड़ाई ? मेढ़कों को भी जोकाम ?

सिपाही—हजूर ! दुनिया में यही वह जवाँमर्द हैं, जो मारना और मरना दोही बातें जानते हैं।

हिदायत०—पागल, क्या बकता है। जो पहाड़ों मे छिप कर चूहे की तरह दिन गुज़ारतें हैं—वो भी बहादुर और दिलेर कहे जा सकते हैं ? तालाब उबलने पर भी समुद्र से नहीं मिल सकता। नीम इत्र छिड़कने पर भी चन्दन नहीं बन सकता।

सिपाही—हजूर ! लड़ाई का मैदान चमड़े की जबान नही, लोहे की तलवार चाहता है। ज़रा बाहर चल कर देखिये।

हिदायत०—अरे इन गीदड़ो के लिये तो अकेला इनायत खा ही काफी है। जा बाहर पहरा दे।

(दूसरे सिपाही का आना)

२ सिपाही—हजूर ! हजूर ! राजपूती फौज, आँधी बनकर उमडा आ रही है।

हिदायत खां—पाजी ! क्या बक रहा है ? घास तो नहीं खा गया ?

२ सिपाही—सरकार ! राजपूतो की तलवार बराबर काट कर रही है—हमारी फ़ौज पीछे हटती आ रही है।

हिदायत०—तू अन्धा है, तेरा दिमाग़ फिर गया। जा उन्हें आगे बढ़ने को ललकार।

२ सिपाही—बिना दुल्हा के कहीं बरात होती है सरकार!

हिदायत०—चल निकल नाबकार!

[नेपथ्य में रणघोषणा]

२ सिपाही०—देखिये, शोर गुल सुनाई दे रहा है।

हिदायत०—मरने वाले राजपूत चिल्ला रहे होंगे?

२ सिपाही—जी नहीं! मारने वाले वीर क्षत्री ललकारते हुये इसी तरफ बढ़े आ रहे हैं।

हिदायत०—इसी तरफ?

२ सिपाही—जी हुजूर! अब तो आसार अच्छे नजर नहीं आ रहे हैं।

हिदायत०—मनहूस, किस नाशुदनी से तू अपनी सूरत यहाँ लाया। (शोर गुल सुन कर)

२ सिपाही—वो सुनिये, मालूम होता है दुश्मन सर पर पहुँच गये।

हिदायत०—या खुदा! यह कैसा उलट फेर? जो मुसलमान हमेशा जीत का डंका बजाकर सुर्खरू रहे, दुनिया से काफिरों को नेस्तनाबूद करने पर तुले रहे. ।

२ सिपाही—वो कब्र में पाँव लटका रहे हैं।

हिदायत०—अच्छा, तू बाहर ख़बरदारी कर—मैं दूसरी खबर का मुन्तज़िर हूँ। (तीसरे सिपही और हुसेन का आना)

हुसेन०—हजूर !

हिदायत०—कौन मेरा जांनिसार हुसेन !

हुसेन०—फौजदार शमशेर खां मारे गये ।

हिदायत०—मौत के घाट उतारे गये ?

हुसेन०—जी, तलवार म्यान से बाहर निकलते ही दो टुकड़े हो गई । अपनी जीती हुई बाजी पलट गई ।

हिदायत०—अफसोस ! मेरे किस्मत का सितारा काले बादलो मे छिप गया ? शमशेर खां नही मरा, मेरा दिल मर गया ।

हुसेन०—हजूर ! समझते थे जिसे गुड़ का निवाला, वह लोहे का चना निकला । फरमाते थे सहल है मेवाड फतह करना, पर वह आसमाने बला निकला ।

हिदायत०—बेशक हुसेन, तू बहुत ठीक कहता था, कि घर से चलते वक्त बिल्ली का रास्ता काटना बुरा है । अब क्या होगा ?

हुसेन०—जो अल्लाह को मंजूर ।

हिदायत०—अरे अल्लाह को छोड़ । यहाँ मरने जीनेका सवाल है । लडाई मे अल्लाह का क्या काम ।

हुसेन०—हजूर ! उसकी बिला मर्जी के पत्ता भी नहीं हिल सकता ।

हिदायत०—चुप बेवकूफ ! अगर हमारा अल्ला होता तो आज हम लोगो की हार न होती ।

३ सिपाही—(आकर) हजूर ! शाही फौज बाईं तरफ से भागी जा रही है ।

हिदायत०—यह क्यों ?

३ सिपाही—दाहिनी तरफ से जगह नहीं है।

हिदायत०—पाजियो, खब्बीसों, निकलो। तुम लोग म्यान मे तलवार लटकाना जानते हो, चलाना नहीं। क्या कहूँ हाथ से तीर निकल गई, वर्ना दिखा देता .....

हुसेन०—कि सिपहसालरी ताक़त और शाही कूवत क्या है ?

१ सिपाही—हजूर! दुश्मन सर पर आ पहुँचे, भागिये भागिये।

हिदायत०—दुश्मन आ पहुँचे . . आगये खुदाई फौजदार।

हुसेन०—भागिये सरकार.........

(भाग जाता है)

हिदायत०—या परवर दिगार! लाओ, लाओ, मेरी तलवार।

(भागना चाहता है कि अजय सिंह वगैरह आ जाते हैं)

अजय०—बाँध लो, यही है हिदायत खाँ मुरदार।

हिदायत०—(तलवार ले लेकर) हां हां मैं ही हूँ सिपहसालार।

अजय०—अच्छा तो संभाल वार।

(लड़ना चाहता है तलवार हाथ से छूट जाती है)

अजय०—क्यों ? जवाँमर्दी ख़तम हो गई ?

हिदायत०—अफसोस है कि तलवार हाथ से निकल गई।

(सब बंदी कर लेते हैं)

सब—बोलो, मेवाड़ राणा की जय !

अजय०—हिदायत खाँ ! जो मर्द हैं, वह नतमस्तक पर वार नहीं करते। गिरे हुये शत्रु को नही मारते। तुम इतमीनान रक्खो

कि राजपूत मरते मरते मर जायेंगे, पर शरणागत को कष्ट न पहुँचायेगें।

हिदायत०—या रहमान! यह है मेवाड़ की शान?

अजय०—सिपहसालार साहब को बाइज्जत क़िलेमें ले चलो।

(अजय सिंह का सबके साथ जाना)

रणक्षेत्र।

(मरे कटे सिपाही पड़े हैं—पुरुष भेष मे मानसी आती है)

मानसी—आह! कठोरता का हृदय यदि पाषाण का पर्वत है, तों निर्दयता की छाती वज्रभूमि है। इस भूमि मे दया, क्षमा और प्रेम का पल्लव नहीं, केवल हिंसा और हत्या के बीज उगते हैं। आह! उस भूमि के लिये, जो न किसी की हुई और न किसी की है, मनुष्य इस बीज का आरोपण करता है। कोई अधमरा है, उर्ध्व स्वाँस से अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर रहा है, तो कोई करुण—पुकार से दयामय की सोई हुई करुणा को जगा रहा है। कैसा भीषण कांड? कैसा हिंसक संसार है?

एक घायल—आह! पीड़ा, पीड़ा......भगवान!

मानसी—ऐ मृत्यु के ग्रास बनने वाले वीरों ! क्या तुम बता सकते हो, कि जिस पृथ्वी के लिये तुमने असंख्य जीवों की हत्या की है, उसके स्वामी अब तक कितने हो चुके ?

२ घायल—आह ! बड़ी वेदना ! बड़ी तीव्र यातना !!

मानसी—करुणामय ! तुम्हारी करुणा की सृष्टि में मनुष्य, मनुष्य को खा रहा है। दया, सेवा, प्रेम के बदले पैशाचिक कृत्य कर रहा है। प्रभो ! तुम्हारे नियमों का यह कैसा विपरीत व्यवहार ? नीले आकाश को भेदकर सारे विश्व में लिप्सा और हिंसा का विकट हुंकार है। सहानुभूति और सत्य के स्थान पर एकता का नहीं, द्वेष और विध्वंस का चीत्कार है। दीनानाथ ! यह कैसा हृदय विदारक खेल ?

(एक एक घायलों को देखती है)

३ घायल—आह ! पानी, पानी...पा .. !

मानसी—पानी चाहिये ?

३ घायल—प्या......स.........!

मानसी—लो भाई ! पीओ। कहो, कहाँ चोट लगी है ?

३ घायल—आह, परमात्मा ! बड़ी पीड़ा।

मानसी—धैर्य धरो भाई ! चिल्लाने से वेदना और बढ़ जायगी।

३ घायल—देवता ! बड़ी भयंकर ज्वाला, बड़ी तीव्र ज्वाला......

मानसी—अधीर न हो। मैं तुम्हारे घावों पर औषधि लगा देती हूँ।

३ घायल—भाई ! तुम कौन हो ?

मानसी—तुम्हारा सेवक। हा प्रभो! इस हत्या-क्षेत्र मे कितने हृदय, परिताप के तीक्ष्ण दंशन से व्याकुल हो रहे हैं। कितनी आत्मायें हृदय की पीड़ा से मृत्यु शय्या पर मुर्भा रही हैं।

४ घायल—देखो, देखो, शत्रु आगये। मारो मारो भागने न पावें...... ..।

(जोश में उठकर गिर पड़ता है)

मानसी—हे ईश्वर! क्या ये वास्तव मे मनुष्य हैं? घायल हैं? नंगी भूमि पर पड़े हैं, सन्मुख मृत्यु खड़ी है, परन्तु इनके मस्तिष्क मे वही मनुष्य-हत्या का विचार रह रह कर जाग उठता है।

(उन गिरे हुए सैनिकों के पास जाकर निहारना चार सैनिकों के साथ अजय सिंह का प्रवेश)

अजय०—हैं! यह क्या? रक्तमयी भूमि मे आलोक किरण! तुम कौन हो?

मानसी—मनुष्य के हृदय से निकली हुई प्रकाश की एक धुँघली रेखा।

अजय०—ऐसे समय जब कि यवनो के निरंकुशता की कठोर भित्ति, निर्दयता और अन्याय का पाषाण समूह, पग पग पर स्वतंत्रता के मार्ग को रोक रहे हैं; मेवाड़ की आग राजपूतो के रक्त से बुझाई जा रही है, शून्य रात्रि, आहतो के रोदन ध्वनि से विदीर्ण हो रही है, तुम्हारे यहाँ आने का कारण?

मानसी—परोपकार जिसका चंदवा हो, सेवा और सहानुभूति जिसकी शय्या हो, उसके लिये अग्नि की ज्वाला भी शीतल है।

अजय०—जानते हो समर का नियम क्या है?

मानसी—मैं मनुष्यता के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता?

अजय०—हैं! तुम्हारे स्वर की मधुरता मुझे किसी परिचित ध्वनि की याद दिलाती है। (पास जाकर) यह क्या? पुरुष भेष में मेवाड़ की राजकन्या!

मानसी—हाँ, अजय सिंह मैं ही हूँ।

अजय०—मानसी! यह क्या हो रहा है?

मानसी—कर्तव्य।

अजय०—कर्त्तव्य?

मानसी-अजय! आश्चर्य न करो। सूर्य का कर्त्तव्य भूमि को तपाना है, तो चन्द्र का कर्त्तव्य उसको शीतल करना है। ईश्वर की सृष्टि में हत्या और रक्तपात यदि पुरुषों का कर्त्तव्य है, तो आहतों की सेवा सुश्रुषा से सुखे हुये वृक्ष में नवपल्लव उत्पन्न करना हम नारियों का धर्म है।

अजय०—मानसी! तुम्हारे शब्दो से घृणा की कालिमा प्रकट होकर वीरता को कलंकित कर रही है।

मानसी—इसलिये कि हिंसा और कठोरता, वीरता का कर्त्तव्य हो गया।

अजय०—परन्तु देश के लिये, गौरव के लिये।

मानसी—अजय! अग्नि से जलता हुआ भवन, वर्षा से शान्त हो सकता है, पर वर्षा की प्रवाह में विदीर्ण हुआ भवन, अग्नि के प्रचण्ड होने पर भी नहीं बच सकता। तुम हिंसा से देश का गौरव चाहते हो, पर मैं उसे दया और सेवा से चाहती हूँ।

अजय०—क्या कहती हो मानसी ?

मानसी—मैं सत्य कहती हूँ। हिंसात्मक दमन देश की अवनति और दयात्मक विश्व की उन्नति है। जीव के लिये ही यह सृष्टि रचना है। जीव का नाश करना, देश की उन्नति नहीं सृष्टि का विध्वंस करना है।

अजय०—बस मानसी ! बस। तुम दया की प्रतिमा, उदारता की मूर्त्ति और परोपकार की देवी हो। यह ज्योति अपूर्व है।

मानसी—ज्योति ? वह ज्योति किधर है अजय ?

अजय०—तुम्हारे मुख पर, मुख की आकृति पर और आकृति की छटा में।

मानसी—यह तो मैं नहीं जानती।

अजय०—चन्द्रमा में प्रकाश है, यह वह नहीं जानता। प्रभात के सूर्य मे ज्योति है, यह वह नही जानता। यह जानते हैं उस प्रकाश को प्राप्त करने वाले। मानसी ! संसार में रहने पर निर्बल, निस्सहाय असमर्थ जीवो के साथ, शक्तिमानो का क्या कर्त्तव्य है, दया और शान्ति में कितना बल है, यह मैंने तुमसे सीखा।

मानसी—अजय ! तुम मेरी प्रशंसा करते हो ?

अजय०—हृदय अपने भीतर छिपी हुई सत्यता और शान्ति तुम्हारे सामने बिखेर देना चाहती है, पर शब्द नही मिलते कि वह वास्तविक रूप से तुम्हें बधाई दे।

मानसी—आश्चर्य है, कि जो विकट आर्तनाद की जन्मभूमि मे नृत्य कर रहा हो, मृत्यु का लीला क्षेत्र जिसका मनोरंजन स्थान

हो, श्मशान में जो हिंसा की मिट्टी से खिलौना बनाता और खेलता हो, उसका हृदय भी शान्ति का अनुभव करे ?

अजय०—मानसी ! स्वर्ण, अग्नि मे तपने के बाद जब शान्ति के जल से बुझाया जाता है, तो वह उज्ज्वल हो जाता है। कच्चा लोह आग में तपकर प्रौढ़ होता है। आज तुम्हारी ज्योति ने मेरी आँखे खोल दी।

मानसी—क्या तूफान मे लहरें मारते हुए समुद्र पर प्रभात की सूर्य किरणें पड़ गईं ?

अजय०—हाँ, काले मेघो मे स्थिर नीले अकाश की तरह, दु:ख के ऊपर करुणा की मूर्ति की तरह, तुम्हारी ज्योतिर्मयी मूर्ति से मेरी कालिमा धुल गई। अहा ! कैसा रूप है, कैसा सौंदर्य्य है।

मानसी—यदि मैं सौंदर्य हूँ, तो तुम आकर्षण हो। और इन दोनों के मिलन से जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाम है ...।

अजय०—प्रेम ! देवी और पुजारी आज उसी सुख को इस प्रेम मे देख रहे हैं।

मानसी—अजय ! पवित्र प्रेम और कलक रहित सौंदर्य की माधुर्य्यता अमृत से बढ़कर है।

अजय०—किन्तु तृषित हृदय, सौंदर्य सुधा को पान किये बिना तृप्त नहीं हो सकता। (हाथ पकड़ लेता है)

मानसी—(हाथ छुड़ाकर) है ! यह क्या ? तुम्हारे स्पर्श करते ही मेरे समस्त शरीर मे बिजली की भांति कौन सी वस्तु दौड़ गई ? अजय ! मुझे क्षमा करना, मै जाती हूँ। (प्रस्थान)

अजय०—आह ! विजली चमकी और लुप्त हो गई । नाड़ी मे गति पैदा हुई और पुनः बंद हो गई । मानसी ! मानसी !! यद्यपि तुम प्रत्येक समय मेरे समीप हो, तथापि मेरी उपासना का कोई अंश तुम्हें प्रसन्न न कर सका । देवि ! मेरी आराधना, मेरा जीवन, संसार मे यदि कुछ है, तो केवल तुम्हारे लिये है । मैं जप, तप, योग अभ्यास, जैसे भी हो, ईश्वर से प्रार्थना करूँगा कि यदि वह मुझे इस जीवन में कुछ देना चाहता है, तो केवल तुम्हें दे ।

(जाना)

राजभवन ।

(राणा अमर सिंह का चिन्तातुर प्रवेश)

राणा०—ओह ! यह जीवन एक सुख हीन स्वप्न है, जिसकी व्याख्या आकाश सा विशाल, पर सत्यता पानी का बुल बुला है। मृग मरीचिका के विकट जाल में फँसा हुआ मनुष्य, स्वार्थ और लोभ के वश कैसा कैसा पैशाचिक काण्ड करता है पर इस नश्वर शरीर पर जरा नहीं विचारता, कि हमारा प्रत्येक सांस अन्तिम सांस हो सकता है। नीले और स्वच्छ आकाश में काले बादल आकर गरजते हैं, पृथ्वी जलमय हो जाती, फिर सब शेष हो जाता है।

गोविन्द०—(आकर) महाराणा की जय हो !

राणा०—गोविन्द सिंह ! अंधेरे में प्रकाश की भांति अचानक कैसे आये ?

गोविन्द०—महाराणा ! हृदय की शान्ति कुंज मे जब चिन्ता की चिनगारी उड़ती है तो मन की स्थिरता करवटें बदलने लगती है।

राणा०—गोविन्द सिंह ! अग्नि-ज्वाला में चारो ओर से घिरा हुआ सिंह अपने जीवन को नहीं, अपने मरण को सोंचता है।

गोविन्द०—निरुद्यमी, निर्बलता को अन्तःकरण कहते हैं। पर जो साहसी और वीर हैं, वह फल को नही कर्त्तव्य को देखते हैं।

राणा०—परन्तु यह विचार पंगुल के लिये नहीं, स्वस्थय के लिये है। मन का साहस हृदय मे उत्तेजना बढ़ा सकता है, टूटे हुए हाथ-पाँव को नहीं बना सकता।

गोविन्द०—महाराणा! यह आप क्या कहते हैं?

राणा०—वही, जो एक लूला लँगड़ा मनुष्य, नि शस्त्र सैनिक, और नख-दंत से हीन सिंह कहता है। गोविन्द सिंह! तुम समझते हो कि देवार का विजय तुम्हारे लिये जीत हुई?

गोविन्द०—अवश्य!

राणा०—नहीं, वह विषधर भुजंग को चोट पहुँचाकर क्रोधित करना हुआ। भयानक अग्नि मे घृत की आहुति डालना हुआ?

गोविन्द०—घृत डालना हुआ?

राणा०—हाँ, हमने मुगलो को युद्ध में हराया नहीं, वरन् उनकी क्रोधाग्नि में घृत डालकर उन्हे और प्रबल बना दिया।

गोविन्द०—महाराणा! यह कैसी दु कल्पना? रण में शत्रु को परास्त करना, क्या उनको प्रबल बनाना है?

राणा०—सेनापति! शत्रुता और मित्रता, सम्बन्ध और विरोध बराबर वालों में शोभता है। विशाल अजगर का एक पत्ती कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

गोविन्द०—किन्तु उपाय और प्रयत्न से मनुष्य महासागर को पार करता है। धैर्य और उत्साह से एक निर्बल प्राणी, बड़े से बड़े पर्वत को चूर कर डालता है।

राणा०—क्या कहते हो गोविन्द सिंह! नित्य प्रति के क्लेश और

चिन्ता ने जिसे बलहीन बना दिया हो, जिस पक्षी के दोनों पंख काट दिये गये हो, क्या वह फिर उड़ सकता है ? पहले ही युद्ध में जो आधी सेना खोकर अपनी कमर तोड़ बैठा हो, क्या वह दुबारा रणक्षेत्र में खड़ा हो सकता है ?

गोविन्द०—चाहे शरीर में हजारों छिद्र हो जाँय, प्रत्येक अंग काट कर छिन्न भिन्न कर दिये जांय, किन्तु अन्तिम सांस भी आयेगी तो वह स्वाधीनता की ही गीत गायेगी।

राणा०—किस पुरुषार्थ पर ?

गोविन्द०—ईश्वर पर विश्वास कर।

राणा०—किस कौशल पर ?

गोविन्द०—आत्मिक बल पर।

राणा०—फिर भी सेना का उपाय ?

अरुण०—(आकर) वह देखिये ग्रामिणो का समुदाय !
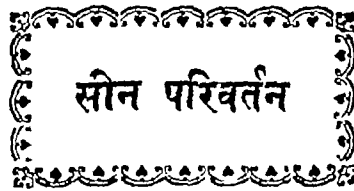
(हजारों जंगली मनुष्यों का धनुष-वाण लिये खड़े दिखाई देना)

राणा०—यह क्या ? यह क्या स्वप्न ?

आरुण०—नहीं महाराणा ! सत्य !!

(पट का बन्द हो जाना)

राणा०—अन्धेरे में भटकते हुए पथिक को अपनी ज्योति से मार्ग बतलाने वाले, दुःख के स्वप्न से निद्रित को जगाने वाले, तुम कौन हो ?

अरुण०—आपके चरणों का दास। मेवाड़ भूमि का अपवित्र कण !

राणा०—गौरव के शिखर से फिसलने वाले को, अपमान के गढ़हे मे गिरने से बचाने वाले बालक ! तुम अपवित्र कण नहीं, एक उज्ज्वल रत्न हो।

अरुण०—किन्तु आपकी उदासीनता, आपका आलस्य भाव, हमारे मुख में कालिख लगा रहा है। हमारे उत्साह साहस और परिश्रम को मिट्टी में मिला रहा है।

राणा०—बालक ! तुम सत्य कहते हो। किन्तु स्त्रियों को विधवा, बालकों को अनाथ बना कर, मेवाड़ के वीरों का रक्त बहा कर, विजय प्राप्त करना, पराजय से भी अधिक दुखदाई है।

अरुण०—महाराणा ! दु ख उन देशों के लिये है जहाँ वीर नहीं मरते हैं। जिस देश पर वीर बलिदान होते हैं वहाँ दु.ख नहीं, सुख है। आलसी और कापुरुषों का देश में जीना भी मरना है। वीरों का रक्त बहाना, देश और स्वाधीनता दोनों को उर्वर करना है।

राणा०—किन्तु मुट्ठी भर धूलि उड़ाकर आकाश को ढाकने की चेष्टा करना, विश्वविजयी असख्य मुग़ल सेना के विरुद्ध खड़े होना पागलपन है।

अरुण०—यदि देश की रक्षा करना पागलपन है, देश पर बलि-

दान हो जाना पागलपन है, तो मैं उस घृणित जीवन से जिसमे न देश का प्रेम हो, न जन्मभूमि का मान हो, इस पागलपन को उच्च समझता हूँ।

गोविन्द०—महाराणा! यही वह पागल पन है, जिसके पैरों पर एक दिन सारा विश्व आकर लोटता है। यही वह पागल पन है, जिसपर स्वर्ग के देववाओं को भी गर्व होता है। सच्चा सेवक इसी पागल पन से स्वाधीनता का पताका फहराता है। यही वह पागल पन है, जिससे मनुष्य स्वर्ग पाता है।

राणा०—गोविन्द सिंह! तुम्हारे वाक्यो के गर्जनसे, इस बालक के नेत्रो की बिजली से, मेरे हृदय में एक आँधी उठरही हैं। किन्तु अन्तिम परिणाम 'मृत्यु' सोचकर. ।

अरुण०—क्या मरने के भय से एक वीर पुरुष अपना रत्न डाकुओं के हाथ सौंप देता है? डूबने के भय से एक चतुर नाविक, नौका चलाना छोड़ा देता है?

गोविन्द०—क्या मृत्यु के भय से हम पूर्वजो के स्मारक को धूल में मिला दें? भीरु की भांति मृत्यु से अधीनता को श्रेष्ठ समझ लें? आह! जहाँ प्रवल अत्याचार का पर्वत, द्वेष की कठोर भीति, स्वार्थ का पाषाण समूह; पग पग पर हमे हनन कर रहा हो, वहाँ हम भय के हाथ पुरुषार्थ को बेच दें?

अरुण०—महाराणा! यह मातृ-ऋण है। इसे शान्ति से, वैभव से नहीं, जीवन के बलि से चुकाना होगा। जन्मभूमि को सुखी करने के लिये हमे अपना सर्वस्व बलि चढ़ाना होगा। वह देखिये,

दासत्व पैशाचिक हँसी हँस रहा है। कर्तव्य अभाव के कारण मृत प्राय' हो रहा है। साहस जठराग्नि की ज्वाला मे दग्ध हो रहा है। वीरत्व, भयकर चिता मे भस्म हो रहा है।

राणा०—बालक ! बालक !! तुम्हारी वाक् शक्ति सूर्य के तेज से तीव्र, जल प्रपात और वज्र से भा अधिक भीषण है।

अरुण०—महाराणा ! आलस्य से लोभ का त्याग किया जाता है, साहस का नहीं। भय से वासना का परित्याग किया जाता है, स्वदेश का नहीं।

राणा०—ओह ! तुम्हारा यशस्वी स्वर मेरे हृदय के चारो ओर कोलाहल मचा रहा।

अरुण०—दूर भागने से नहीं, दुखो के अवलोकन से ही उपाय प्राप्त होता है। सच्चा सपूत अपने दु:ख को नहीं, माता के सुख को देखता है।

राणा०—बस, बस, बालक ! तुम्हारे उत्साह भरे शब्दो से मेरे रग रग मे युगान्तरी आलोक फैल गयी।

अरुण०—तो प्रभो ! उठिये। मुगलों की नई सेना आक्रमण करने आगई है, उसे मटिया मेट कर डालिये।

राणा०—वीर बालक ! तुम्हारे उत्सर्ग जीवन ने, मेरे हारे हुए हृदय का मोह भग कर दिया। बोलो, वोलो, वीर ! तुम किस कुल की संतान हो ?

अरुण०—महाराणा ! मेरा परिचय पाकर आप मुझ पर धिक्कार की वर्षा करेंगे। घृणा से अपने मुख को फेर लेंगे।

राणा०—किससे ? जो प्रात'काल के सूर्य की प्रथम किरण की

भांति निरुत्साहों के अंधेरे हृदय मे प्रकाश करता है ? मोह माया मे निद्रित मनुष्यों में नवजीवन का संचार करता है ? नहीं, तुम्हें अपना परिचय देना होगा।

अरुण०—यदि आप सुनना चाहते हैं तो मन को स्थिर करके सुनिये। मैं सगर सिंह का नाती अरुण हूँ।

राणा०—सगर सिंह का नाती, अरुण ?

अरुण०—हाँ महाराणा ! नाना का परिचय, मेरी गर्दन को लज्जा से झुका देता है। संसार मे एक वह आर्य थे, जिनका नाम लेकर वीर मैदान में जाते हैं। एक आर्य वह थे, जिनके यश और दान पर संसार वाले आँसू बहाते हैं। और एक हमारे नाना हैं, जो अपने भतीजे के विमुख चित्तौर में कल्पित राणा बनकर आये हैं। खरीदे हुए दास होकर बिदेशियों के लिये अपना घर मिटा रहे हैं।

राणा०—किन्तु फिर भी बड़ों की निन्दा......?

अरुण०—निन्दा होती है उसकी, जिसके पास मान है सत्य है, न्याय है। मैं ऐसे नाना को, ऐसे परिवार को धिक्कारता हूँ; जिसमे न देश का गौरव और न जाति की लाज है।

गोविन्द०—धन्य हो, धन्य हो, रघुवंशी सपूत तुम धन्य हो।

अरुण०—महाराणा ! मैं नाना के पापो का प्रायश्चित करने के लिये इस जीवन पर कर्तव्य की मुहर लगाऊँगा। विजली की कड़क बनकर समस्त मेवाड़ को जगाऊँगा। शत्रुओं की अग्नि को अपने रक्त से बुझाऊँगा। आकाश और पृथ्वी के बीच क्षत्रिय नाम को दिपाऊँगा।

राणा०—शान्त हो, प्रिय भ्राता शान्त हो। जब देश के बालक, वृद्ध, नवयुवक, स्वाधीनता के लिये जीवन उत्सर्ग करते हैं तो उस देश का राजा तुम्हारा भाई, भी अपना प्राण देने को तैय्यार है। गोविन्द सिंह जी! जाइये, युद्ध की घोषणा कीजिये।

अरुण०—बोलो मेवाड़ के महाराणा की जय!

सब—महाराणा की जय!

(राणा के पीछे पीछे सब का जाना)
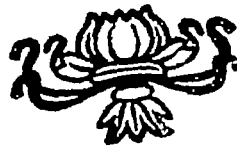
मानसी का भवन ।

(मानसी और कल्याणी का बातें करते आना)

मानसी—कल्याणी ! अपने सुखी रहने का नाम सुख नहीं है। दूसरो को सुखी करना ही वास्तविक सुख है । सुख की महिमा, सुखिया से नहीं. किसी दुखी आत्मा से सुनो । धन का मूल्य धनवान से नहीं, किसी कंगाल से पूछो !

कल्याणी—किन्तु संसार दूसरे का दुःख नहीं, अपना सुख देखता है ।

मानसी—मेघ अपनी छाती विदीर्ण करके जल देता है , वह अपने सुख के लिये नही, संसार का ताप बुझाने के लिये । पुष्प अपना सुगन्ध वायु मे लुटा देता है, दुनिया को सुखी बनाने के लिये । वृक्ष, पल्लव, स्वयं वायु और ताप सहकर दूसरो को शीतल करते हैं । वह जीवों मे हिंसक है जो अपने लिये चेष्टा करके, अपनी संतान को आपही खा जाते हैं ।

कल्याणी—कल अजय भइया भी यही कहते थे, कि सुख का दूसरा नाम सेवा है । धन, बल, राज्य से शरीर को सुख मिलता है, पर सेवा और दया से मनुष्य की आत्मा सुखी होती है ।

मानसी—तुम्हारे भइया दिन भर घर पर क्या किया करते हैं ?

कल्याणी—केवल आपके नाम की माला जपते हैं। अपने को आपका शिष्य कहते हैं।

मानसी—मेरे शिष्य ?

कल्याणी—जी हाँ।

मानसी—बस रहने दो कल्याणी ! यह मेरी प्रशंसा नहीं, मेरा उपहास है। जो स्वयं करुणा का अवतार, उदारता का शृङ्गार है, उसका ऐसा कहना मेरी क्षुद्रता का परिहास करना है।

कल्याणी—सच है, देवता कब किसी की पूजा और आराधना चाहता है। किन्तु चकोर तो चन्द्र से ही सुधा पान करता है।

मानसी—कल्याणी ! ऊँचे ललाट, तेजस्वी मुख मे का पुरुष नहीं, वीर पुरुष छिपे रहते हैं। दयार्द्र और उदार मन किसी उपदेश से नहीं प्रकृतिस्थ होते हैं। लोग पुस्तकों में पढ़ते है, उपदेशों से सुनते है, आँखो से देखते हैं, फिर भी काम-क्रोध-लोभ, का परित्याग नही कर सकते।

कल्याणी—धन्य है ! आपके इस करुणा पूर्ण व्याख्या को धन्य है।

मानसी—(एक तस्वीर उठाकर) देखो, तेजस्वी पुरुष का रूप स्वांग भरने से नहीं, स्वाभाविक प्रभा की भांति प्रकाशमान रहता है।

कल्याणी—(स्वगत) हा ईश्वर !

मानसी—ठंढी साँसे क्यो भरती हो ? यही तो तुम्हारे स्वामी हैं ?

कल्याणी—हाँ, थे।

मानसी—किन्तु अब ?

कल्याणी—अब विधर्मी हैं।

मानसी—कल्याणी ! हम मनुष्यों को किसने बनाया ?

कल्याणी—ईश्वर ने !

मानसी—और यह कर्म धर्म किसने चलाया ?

कल्याणी—शास्त्रकारों ने।

मानसी—तो विचार करो, मनुष्य के बनाये हुए आडम्बर में ईश्वर की संतान से विरोध क्यों ? उस अनादि की सृष्टि में मेरा तेरा का भेद क्यों। यह संसार की भूल है, जो धर्म के नाम पर रक्त-पात करता है। हम सब उसी के जीव हैं जो जग का पालन कर्त्ता है।

कल्याणी—तो उन पर प्रेम रखना पाप नहीं ?

मानसी—कभी नहीं। अधम के साथ प्रेम करने में उतनाही अधिक पुण्य है, जितना कि वह नीच है। वह दया का पात्र उतनाही है, जितना कि वह अधिक कुत्सित है। ब्रह्म कहो या अल्लाह, दोनों उसी पिता का नाम है। जो हैं हिन्दू, वह हैं मुस्लिम, जो रहीम वह राम हैं। भाषा का है भेद केवल जगत उसी का लेखा है। हृदय भिन्न भिन्न पर पड़ती सब पर एक ज्योति की रेखा है।

कल्याणी—खुल गई, कुमारी ! तुम्हारे सद्उपदेशों से आज मेरी बन्द आँखें खुल गईं। आज से मैं शिष्या और आप मेरी गुरु-आनी हुई।

मानसी—कल्याणी ! सुन्दर और कुरूप का विचार सत्य प्रेम

मे नहीं लालसा मे होती है। धर्म और जाति का भेद, पवित्र प्रेम में नहीं, अहमृता में होती है। स्वार्थ का अपहरण करके, मोह का मान भंग करके, विकार का विनाश करके, प्रेम प्रभाकर की भाँति संसार को आलोक मय बनाता है। प्रेम मे बंधन नहीं, रुकावट नहीं, यह सर्वदा समान भाव से स्वतंत्र रहता है।

कल्याणी—अहा! कैसा पवित्र प्रेम का सार है?

मानसी—सुनो! गाना।

प्रेम मय भगवान है यह प्रेममय संसार है।
प्रेम का व्योहार अद्भुत, प्रेम ही बस सार है॥ प्रेम०—
प्रेमही सो रवि प्रभात फूलत फलत वेलिपात।
प्रेम गीत गूँजत नभ प्रेम फिरत संसार है॥ प्रेम०—
पवन चलत प्रेम मगन-गावत तपसी-उड़िगगन।
प्रेम जल-नभ से गिरत, प्रेम अमीय धार है॥ प्रेम०—

(गाते गाते दोनो का जाना)

गोविन्द सिंह का भवन।

(कल्याणी का दीवार पर टंगी हुई अपने पति महाबत खां के तसवीर की पूजा करना)

कल्याणी— गाना।

प्राणों के प्राण प्यारे! जीवन वंसत आओ।
मिट्टी में मिट्टी हूँ बनी मत धूलि में मिलाओ॥
नीरस हूँ मैं कहानी सूखी हुई हूँ वाणी।
त्यागी को त्याग करके तन वेलि ना सुखाओ॥
है ऐसी रात काली जिसमें नहीं उँजियाली।
जीवन प्रभात मेरे! नैया मेरी बचाओ॥
सुखी हुई हंसी हूँ उजड़ी हूँ पर वसी हूँ।
स्वाती की बूँद बन कर मेरी तृषा बुझाओ॥

हे मेरे यौवन-निकुंज के पिक! मेरी दुनिया के मनोहर फूल! तुम मुझे भुला दो, अपने चरणो से ठुकरा दो, पर मेरे हृदय सिंहासन पर तुम्हारी ही मूर्ति विराजमान है। तुम्हारी मधुरता मेरी आशा, तुम्हारी नवानता मेरी भक्ति, तुम्हारी दया मेरी जीवन-तपस्या है। मेरे अम्बर प्रदेश के पथिक! मेरे मंद भाग्य के प्रभात सूर्य! मेरे हृदय के अंधेरी कन्दरा मे अपनी किरण फैला दो।

(चित्र पर फूल चढ़ाना चाहती है, गोविन्द सिंह आकर रोकते हैं)

गोविन्द०—कल्याणी ठहर !

कल्याणी—पिजा जी........।

गोविन्द०—जिस मन मे माता पिता की भक्ति का उज्ज्वल चिन्ह हो, जो धर्म कर्म के पवित्र सागर मे हिलोरें खा रही हो; वह एक रंगे हुए कागज के टुकड़े की आराधना करे ?

कल्याणी—पिताजी ! सच्चे पुजारी के लिये कागज का टुकड़ा या पत्थर का टुकड़ा क्या ? वह प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक कण मे उसी रूप को देखता है।

गोविन्द०—किन्तु तू जानती है यह किसका चित्र है ?

कल्याणी—आँखें जिसका चरण धोतीं, हृदय जिसका गीत गाता है। जिह्वा जिसका नाम रटती और हमारे जो पूज्य-देवता है।

गोविन्द०—देवता, कौन ? जो जाति का कलक और मान का भक्षक है ?

कल्याणी—चकोरी चन्द्र को देखती है, उसके कलङ्क को नहीं। मयूरी मेघ को निहारती है, उसके कालिमा को नहीं। पिता जी ! स्त्रियों का धर्म, देश, संसार, सब कुछ पति चरणों मे है।

गोविन्द०—कल्याणी ! जिन बातों के सुनने के लिये मेरे कान बहरे हो गये, जिस शब्द के उच्चारण से मैंने तेरे मुख को बन्द कर दिया था, आज तू उसका उल्लेख कर रही है।

कल्याणी—इसलिये, कि मेरी समझ पर पड़े हुए भूल के परदे उठ गये। मेरे हृदय के बंद द्वार खुल गये। मुझे विदित हो गया कि वेही मेरे सर्वस्व हैं।

गोविन्द०—अज्ञान! पत्थर से पानी की आशा रखती है? सूखे हुए कूप से प्यास बुझाना चाहती है? क्षण में बदलने वाले रंगीन बादलों को देख कर उस पर लुभाती है? कड़ुए नीम से मीठा फल चाहती है?

कल्याणी—पिता जी! जो भक्ति, अन्धकार में चन्द्रमा के समान शांत, आँधी में पर्वत के समान दृढ़ और घूमने में ध्रुवतारे के समान स्थिर हो-वह अपनी सेवा से सूखे हुए वृक्षों में हरा पत्ता लगा सकती है। अपनी भक्ति के प्रताप से पत्थर को भी पिघला सकती है।

गोविन्द०—भोली लड़की! आँखों से देख कर काले सर्प को रेशम की डोर समझना, एक विद्रोही विधर्मी से सुख की आशा करना, भयानक भूल है।

कल्याणी—पिताजी! सत्य प्रेम की पोषिका प्रकृति है, माता महामाया और कन्या करुणा है। पति-भक्ति के प्रदेश मे मोह नहीं, क्रोध नहीं, द्रोह नहीं, धर्म नहीं।

गोविन्द०—धर्म नहीं?

कल्याणी०—हाँ, धर्म और आचार मनुष्यों का है, पति-प्राणा स्त्रियों का नहीं। वे अपने जीवन-ससार मे ईश्वर को साक्षी देकर, विवाह-बंधन से बंधे हुए स्वामी को देखती हैं।

गोविन्द०—बावली! साक्षी का भय, लज्जावान के लिये है, निर्लज्ज के लिये नहीं। बंधन और नियम धर्मात्मा के लिये हैं, विधर्मी के लिये नहीं।

कल्याणी—किन्तु वे विधर्मी होकर भी मुझे ग्रहण करना चाहते थे।

गोविन्द०—कल्याणी! धर्म से आलोकित गृह में गौ पाली जाती है, कूकर नहीं। दान-गृह में देवता निवास करते हैं, असुर नहीं। जिस दिन यवन प्रवंचना में महाबत की बुद्धि का पतन हो गया, उसी दिन उसने हिन्दूधर्म के साथ साथ तेरा भी परित्याग कर दिया।

कल्याणी—किन्तु पतिव्रता का पुष्प, निर्बल होकर गिर पड़े इतना खिलता नहीं। कली फूल होती है, किन्तु फूल का पल्लव सूखता नहीं।

गोविन्द०—भोली लड़की! स्वार्थी से त्याग की आशा? उद्दण्ड से दया की अभिलाषा?

कल्याणी—पति भक्ति का अनुराग!

गोविन्द०—अग्नि में शीतलता नहीं, ताप होता है। सर्प में आत्मीयता नहीं, वह धोखेबाज़ होता है।

कल्याणी—नारी का सुहाग?

गोविन्द०—कल्याणी! कल्याणी!! विष से अमृत पैदा नहीं होता। बबूल के झाड़ में कमल नहीं खिलता। अग्नि का उज्ज्वल रूप देख कर उसे न पकड़। साधु का चेहरा देखकर, धर्म की घातक न बन।

कल्याणी—किन्तु पति भक्ति का रूप, विश्वास के समान स्वच्छ, करुणा के समान अयाचित और मातृ-स्नेह के समान निरपेक्ष है।

गोविन्द०—तू अंधी है। वह चन्दन नहीं, अधर्म और द्वेष मे भींगा हुआ काष्ट है, जो सुगन्धि के बदले दुर्गन्धि देगा। अपनी नीच भावना से तुझे भी अपने साथ ले डूबेगा।

कल्याणी—पिता जी! पति के आदर की आराधना तो सभी स्त्रियाँ करती हैं, पर जो साध्वी हैं वह उन पैरो की, जिनसे पति ठुकराता है, उसकी पूजा करती हैं। यही वह पति-भक्ति है, जिसका वियोग नहीं, क्षय नहीं, संकोच नहीं। यही वह पातिव्रत है, जिसमें पति की निष्ठुरता पर ह्रास नही, निराशा पर क्षोभ नहीं।

गोविन्द०—बस, बस, उँजाले के रूप मे अधेरा न दिखा। कन्या का रूप धारण कर के मेरे धर्म को बट्टा न लगा। अपना नहीं, मेरा नहीं, तो धर्म का विचार कर।

कल्याणी—पिता जी! क्षमा करेंगे। मैंने एक बहुत बड़ी गरिमा का अनुभव किया है। मै उनकी साध्वी स्त्री हूँ। आज मुझे यह दिखाने का सुयोग मिला है। यही नारी-जीवन का उत्सर्ग है।

गोविन्द०—हठीली लड़की! अपने तर्क से मेरे कानो को अपवित्र बनाती है? इस कुल्टा प्रवृत्ति को उत्सर्ग कह कर मेरे क्रोध को जगाती है? अभी और इसी क्षण मेरे गृह से इस चित्र को बाहर ले जा।

कल्याणी—पिता जी.. ...!

गोविन्द०—बस, मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। मेरा धन, धाम, जीवन, शरीर सब कुछ चला जाये, पर मैं प्राण रहते एक विद्रोही, विधर्मी की छाया को कभी नहीं देख सकता।

अजय०—(आकर) पिता जी ! पिता जी !!

गोविन्द०—कौन ? अजय, क्या तुम भी इस नदी के प्रवाह मे तूफान बन कर आये हो ?

अजय०—नहीं, क्षमा का भिक्षुक बनकर आपके क्रोध से शान्ति की प्रार्थना करने आया हूँ !

गोविन्द०—कहो, क्या कहना चाहते हो ?

अजय०—यही, कि जो भाव अति सुन्दर, अति उच्च और अति पवित्र है, उसे क्रोधावेश मे कुत्सित न समझें। कुछ कहने के पहले तनिक सोंच विचार लें।

गोविन्द०—अजय ! मैं कोई बच्चा नही, अज्ञान नहीं। जिस भाव मे जाति-धर्म की उज्ज्वल रेखा न हो, वह अधमाधम और घृणित है।

अजय०—किन्तु घृणित होने पर भी कन्या के लिये पूज्य है।

गोविन्द०—अजय, अजय, इन होठो को सी लों, जिनसे ऐसे विषैले वायु निकाल रहे हो। इन आँखों को बंद कर लो, जिनसे दूषित ज्योति फैला रहे हो। मै मेवाड़ की कन्याओ को विष खिला दूँगा, अग्नि मे ढकेल दूगा, परन्तु जीते जी विधर्मियों के हाथ न सौपूँगा। देश की मर्य्यादा मेरी इच्छा; जाति का गौरव मेरी प्रसन्नता और धर्म की रक्षा मेरा दृढ़ विचार है।

अजय०—पिता जी ! क्षमा करेंगे। यदि देशहितैपियों के लिये देशभक्ति है, ईश्वर उपासकों के लिये ईश्वर-भक्ति है, तो हिन्दू कन्याओ के लिये भी पति-भक्ति है। जिस भांति मृग वीणा के सिवा

और किसी पर मुग्ध नहीं हो सकता, उसी भाँति एक साध्वी कन्या का मन, सिवा पति के और किसी को नही देख सकता। वह पिता को, जाति को, धर्म को नहीं, केवल पति को जानती हैं। चाहे अमृत का समुद्र हो या विष का, एक बार उसमे कूद जाने पर उसी मे मरना जीना वे सुख मानती है।

गोविन्द०—तो मैं ऐसी कन्या को जिसमे धर्म का मान न हो, विधवा देखना चाहता हूँ।

कल्याणी—तो पिता जी ! आज से मुझे विधवा ही जाने। मेरे लिये आस्तिक हो या नास्तिक, दस्यु हो या हत्यारा, हिन्दु हो या मुसलमान, भिक्षुक हो या श्रीमान्, पति रूप मे वही स्वर्ग हैं।

गोविन्द०—तो इस गृह के बाहर चली जा। मैं ऐसी कुलक्षणी का मुख देखना नहीं चाहता।

अजय०—पिता जी ! पिता जी !! यह आप क्या कर रहे हैं ?

गोविन्द०—जो मेरा धर्म कहता है।

अजय०—कल्याणी आपकी पुत्री है।

गोविन्द०—कन्या से बढ़कर जातीयता है।

अजय०—स्त्री होकर यदि भूल भी करे तो क्षमा के योग्य है।

गोविन्द०—धर्म और जाति की बैरिन, नरक ही के योग्य है।

कल्याणी—पिता जी ! यदि हिन्दुत्व आपका सनातन धर्म है तो पतिव्रत भी मेरा अटूट धर्म है। देश को शत्रु लूट सकता है, जाति को विजाति खंडन कर सकता है, धर्म का पाप ह्रास कर सकता है,

पर मेरे पुण्य प्रकाश को, मेरे इस उत्सर्ग रत्न को, देव, दानव, कोई भी नहीं छू सकता।

गोविन्द०—तो जा, ठोकर खा। यदि तेरा धर्म पति है, तो मेरा धर्म देश है।

कल्याणी—जो आज्ञा! (जाना चाहती है)

अजय०—(कल्याणी को रोककर) कल्याणी ठहर!

गोविन्द०—यह क्या अजय?

अजय०—पिता जी! जब आप एक अबला बालिका को घर से बाहर कर रहे हैं, तो मुझे भी जाने की आज्ञा दीजिये। इस सत्य के दीपक को बुझाने के पहिले मेरे नाम की रेखा भी मिटा दीजिये।

गोविन्द०—यह क्यो?

अजय०—मैं इन आँखों से इस वधिक ससार मे एक स्त्री को अकेले जाते नहीं देख सकता। एक साध्वी बहिन की नौका को अकेला विक्षुब्ध सागर मे नही छोड सकता। इसका पतिव्रत धर्म मेवाड़ की सम्पत्ति है। क्षत्रिय सन्तान प्राण रहते उस सम्पत्ति को नहीं लुटा सकता।

गोविन्द०—कौन सन्तान? जो रूप मनुष्य का और स्वभाव नागिन का रखता हो?

अजय०—कहते जिसे है नीम वह चन्दन है मणी है।
उषा की किरण मे यह अनहद की ध्वनी है॥

गोविन्द०—अजय! अजय.........

अजय०—इच्छा इसकी प्रण मेरा, मन इसका वचन मेरा।

देवी यह उपासक मैं, कविता ये मनन मेरा॥

गोविन्द०—बस, बस, मैं इन कानों से देश का मधुर गाना सुनना चाहता हूँ पागलों का प्रलाप नहीं। यदि तुझे इस झूठी मोती में चमक देख पड़ती है तो जा, तू भी इसके साथ चला जा।

(उँगली से बाहर जाने के लिये निर्देश करते हैं)

दोनों—[घुठने टेक कर सिर झुका लेते हैं] प्रणाम !

ड्रॉप-सीन के स्थान पर: टेब्ला-ड्राप

क़िले का एक हिस्सा।

(सगर सिंह का राजसी भेष में प्रवेश)

सगर०— लाठी से न सोटा से नहीं कलम दुइधार से।
वीर बहादुर लड़ते हैं बात की तलवार से ॥

वह अड़ियल टट्टू, बालक वजरट्टू, जब राज विद्रोही हो गया तो मैंने भी तिरस्कार का हन्टर मार कर उसका परित्याग कर दिया। अजी दौलत रहने से नाती मिल सकते हैं, पर नाती रहने से दौलत नहीं मिल सकती। अगर नाती बिगड़ गया है तो सुधर कर दौलत पा सकता है। पर यदि दौलत नाराज़ हो जाये, तो नाक रगड़ने पर भी नाती नहीं मना सकता। कहाँ यह राजसी महल, राजा की उपाधि, कहाँ जंगल की रोटी और मार काट ?

(एक पहरेदार का प्रवेश)

पहरे०—राणा साहब की जय हो !

सगर०—हैं राणा ? फिर वही तराना ? मूर्ख पाजी..

पहरे०—क्षमा करें, भूल हुई।

सगर०—भूल ? अरे भूल के कारण ही आदमी जेल का दण्ड पाता है। भूल से ही राजा का राज्य नष्ट हो जाता है। डाक्टर की भूल से रोगी यमपुर पयान करता है। न्यायकर्ता की भूल से निरपराध फांसी पर लटकता है।

पहरे०—सरकार ! चमड़े की जबान लड़खड़ा गई।

सगर०—दीवाने ! जिस जबान की बदौलत एक पत्ती भी आदरणीय होता है, जिस जबान पर सारे संसार का विश्वास बैठा रहता है, उसका ऐसा दुरुपयोग ? जिस वाणी पर जीवन और मरण निर्भर है, उसमे इतना बड़ा रोग ?

पहरे०—क्षमा करें।

सगर०—देख तलवार की चोट आदमी सहन कर सकता है, पर बात की चोट नहीं बर्दाश्त कर सकता।

पहरे०—सत्य है महराज !

सगर०—सुन ?

क़ाबू में है जबाँ तो मतलब भी नेक है।
बेकाबू जबाँ के होत ही गद्हे की रेंक है॥

पहरे०—समझ गया सरकार ! प्रणाम। (जाना चाहता है)

सगर०—अरे प्रणाम के बच्चे चला कहाँ ? किस लिये तुझे बुलाया था, कुछ उसे भी सुना ?

पहरे०—जी, जी, कानो से सुना, मस्तिष्क से सुना, दिल से सुना और समझा—

काबू में है जबाँ तो मतलब भी नेक है।
मौन मंत्र का जाप ही गुणिजन विवेक है॥

सगर०—अच्छा देख, रात की गोद में दिन और चारपाई की गोद में राजा साहब सोने जा रहे हैं। कहीं तू भी नींद की गोद में न सो जाना ?

पहरे०—राजा साहब ! यह दुर्ग है, यहाँ किसी बात की चिन्ता न करें।

सगर०—अरे चिन्ता कंगालों को नहीं, धनवानों को हर समय रहती है। राज्य-इर्ष्या के कारण दुनिया भर हमसे शत्रुता रखती है।

पहरे०—किन्तु सरकार तो क्षत्री की संतान. . ।

सगर०—चुप रह ! मैंने बड़े बड़े तीरन्दाजों को देखा है, कि दानव का शरीर लेकर संग्राम मे गये हैं और एक ही हाथ में टें बोल गये।

पहरे०—तो बीरो के लिये मरना ही जीना है।

सगर०—अक्ल के अन्धे ! यह जीवन इतना सस्ता नही. जा मूर्खों की भाँति इसे छूमंतर कर दिया जाय ? जब बीस वर्ष तक खेल कूद कर अपने को प्रौढ़ बनाया, चालीस वर्ष तक दुनिया की विद्या से सजाया, तो राजभोग के समय वृद्धावस्था का सुख न देखूँ ?

पहरे०—राजा साहब ! इतने भयातुर न होइये। आप भी तो राजपूत हैं।

सगर०—पागल ! मैं उन हत्यारे राजपूतो मे नही हूँ, जो हत्या का पाप अपने सर पर चढ़ाते हैं। सच्चे वीर वही है जो बात की तलवार चलाते हैं।

पहरे०—अच्छा तो मै पहरे का पूरा बन्दोबस्त रक्खूँगा।

सगर०—हाँ. बिल्ली वाला नहीं, कुत्ते वाला पहरा होना चाहिये।

पहरे०—तो चार कुत्ते ला दूँ ?

सगर०—अरे मूर्ख गँवार ! मेरा मतलब यह है कि बिल्ली की तरह म्याऊँ म्याऊँ पहरा न देना ? कुत्ते की तरह गुर्राते हुए तलवार खैंचे रहना । जहाँ कोई आये एक ही हाथ में समाप्त कर देना । पर कहीं भूल से मेरी ही गर्दन पर तलवार न फेर देना ।

पहरे०—भला अपने राजा पर ? छीः छीः ।

सगर०—अच्छा तो मैं सोता हूँ ।

पहरे०—निश्चिन्त होकर सोइये । मैं सावधानी से रहूँगा ।

(राणा का सोना-पहरेदार का तलवार लेकर पहरा देना)

पहरे०—सच है । बबूल में कमल नहीं खिलता । आलसी प्राणी पंक में रहना ही है सुख समझता ।

अरुण०—(प्रवेश कर) सुमन सिंह ?

पहरे०—श्रीमान् !

अरुण०—क्या विलम्ब है ?

पहरे०—कुछ नहीं ! आपके नाना जी सोने गये हैं, आप कार्य आरम्भ कीजिये ।

अरुण०—अच्छा तो तुम जयमल का भेष धारण करो और मैं भीम सिंह का रूप बनजाऊँ ।

पहरे०—हाँ, इस कौतुक से इनके हृदय की कालिमा धो जायगी और इन्हें अपने पूर्वजों की भूली हुई स्मृति याद आजायगी ।

अरुण०—सुमन ! लोभी हृदय वर्तमान सुख के आगे अपनी मान मर्य्यादा को भूल जाता है । उसे स्वाधीनता में नहीं, दासत्व के ही जीवन में सुख दिखाता है ।

पहरे०—श्रीमान् ! पारस के स्पर्श से लोहा भी कंचन हो जाता है। सत्संग और प्रयत्न से मूर्ख भी बुद्धिमान बन जाता है।

अरुण०—अच्छा, चलो कार्य्य आरम्भ करें। आज अपने कौशल और प्रयत्न द्वारा भूले हुए को सुपथ पर लाना है। जहाँ निजाति की पूजा है, वहाँ अपने धर्म को जगाना है।

[दोनो का दो ओर जाकर छिपना, सगर का जागना]

सगर०—(उठकर) हैं ! यह क्या ? अंधकार में यह बड़े बड़े वृक्ष भूतों की तरह सर उठाये हुए मुझे क्यों निहार रहे हैं ? ऊँचे पर्वत राक्षस बनकर मुझे क्यो निगलने को तैय्यार हैं ? पहरेदार ! पहरेदार !!

(घबरा कर एक ओर भागना, उस ओर से जयमल का प्रगट होना)

सगर०—हैं यह क्या ! यह कौन ? वीर जयमल की आत्मा ? हाय ! हाय !! मैं मरा ? सीताराम ! सीताराम !! (दूसरी ओर भागना। दूसरी तरफ से भीम सिंह का प्रकट होना) अरे यह कौन ? चित्तौर के राणा भीमसिंह ! महावीरजी ! महावीरजी !! हाय मेरे पिता ? नही नहीं राणा ! मेरी ओर लाल आँखें करके न घूरो। मुझे क्रोध से न देखो। मैं निरपराध हूँ।

"नासै रोग हरै सब पीरा, जपत निरंतर हनुमत बीरा।
भूत पिशाच निकट नहिं आवै, महावीर जब नाम सुनावै।"

भीम०—बस खड़े रहो।

सगर०—हायरे मेरे बाप ! यह कैसा अनुताप। चौकीदार, चौकीदार, अरे क्या सबके सब मर गये ?

भीम०—बस मौन ?

सगर०—(स्वगत) मैं भी कहता हूँ मौन ? (प्रगट) भाई ! मुझ पर दया करो। मुझे जबरदस्ती यहाँ लाया गया।

भीम०—दया ? तेरे जैसे धर्मघातक पर दया ?

सगर०—बाबा ! मैंने धर्म नहीं छोड़ा है, अभी तो मैं हिन्दू हूँ।

भीम०—कपटी ! तुझ हिन्दू से तो मुसलमान लाख दर्जे अच्छे हैं जो अपने धर्म और जाति पर जान देते हैं। तू इतना गिर गया कि हिन्दू का चेहरा लगाकर विजातियों की सेवा करता है। अपने कुकर्मों से कुल और देश दोनों का नाश करता है।

सगर०—भाई ! मैं तो यहाँ आना भी नहीं चाहता था। मुझे जबरदस्ती राजा बनाया गया ?

भीम०—कापुरुष ! अपने धन की लिप्सा और मान की आकांक्षा को जबरदस्ती बताकर, निर्दोष बनना चाहता है ? मुगलों के पैरों के पास बैठकर राज-भोग खाने की अपेक्षा, चिल्लू भर पानी में नहीं डूब मरता ?

सगर०—भूल हुई, मुझे क्षमा करें। मैं सौगन्ध खाता हूँ, कि अब हिन्दू-धर्म की पूजा करूँगा।

भीम०—तू और हिन्दू-धर्म ? कभी नहीं। जो सच्चे हिन्दू हैं, हिन्दू-धर्म के उज्ज्वल रत्न हैं, वो आजादी के साग सत्तू को खाकर नंगी भूमि पर सोकर अपना जीवन बितायेंगे। पर नित्यप्रति के मुट्ठी भर सोना पाने पर भी विजातियों के आगे हाथ न फैलायेंगे।

सगर०—(स्वगत) हाय रे लोभ ! तू ने मुझे कहीं का न रखा।
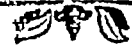
भीम०—मतिमन्द ! आँखें खोलकर देख। उस मुट्ठी भर सोने में मुगलों के पैर की धूलि लिपटी है—उनकी सहानुभूति के नीचे घृणा की हँसी झलकती है।

सगर०—ठीक है भैया ! मैंने बड़ी भूल की।

भीम०—भूल ? झूठ बोलता है ? पूर्वजों की आत्माओं को कलुषित करने वाले पशु ! मुझे भी ठगता है ?

सगर०—नहीं, नहीं, मेरा अपराध क्षमा करो। मैं अपने पापों का प्रायश्चित करूँगा।

भीम०—क्षमा नहीं, वे धन्यवाद के योग्य भी हैं, जो देश के लिये अपना सब कुछ निछावर कर देते हैं। धर्म और न्याय की रक्षा के लिये मर मिटते हैं।

सगर०—भाई ! मेरे लिये न सही, अपने लिये न सही, इस बार देश के लिये मुझे क्षमा करो।

भीम०—जो अपनी दीना हीना, जननी जन्मभूमि को छोड़कर मुगलों के प्रसाद का भागी बने, जो यहाँ की स्त्री-जाति को लांछित करनेवाले मुगलों की शरण पड़े, वह भी देश की दुहाई दे।

सगर०—भाई ! एक बार मुझे और अवसर दो, कि मैं अपने पाप का प्रायश्चित करूँ। अपने अधम जीवन को मातृ-सेवा से पवित्र कर सकूँ।

भीम०—एक अविश्वासी, लोभी का विश्वास ....?

सगर०—हाँ हो सकता है। यदि आप देश-भक्त हैं, धर्म के स्तम्भ हैं तो आपके हृदय में सत्यता के लिये स्थान मिल सकता है।

भीम०—सच कहता है ?

सगर०—सच और सही। आज मेरी बंद आँखें खुल गईं। आपकी कृपा से पराई लालसा मेरे हृदय से दूर हो गई। मैं आज ही अपने भतीजे को यह राजस्थान अर्पण कर उनसे अपने अपराधों की क्षमा माँगूँगा। और देश की दरिद्रता, दुख को दूर करने के लिये अपनी जान लड़ा दूँगा।

भीम०—अच्छा तो पहले जननी जन्मभूमि से अपने कुकर्मों की क्षमा माँग !

सगर०—(आँखें बन्द करके हाथ जोड़कर) हे मातृभूमि ! मातेश्वरी ! मुझ नराधम को क्षमा करो।

(सगर का आँखें बन्द करके क्षमा माँगना—दोनों आत्माओं का अलोप हो जाना)

सगर०—(आँख खोलकर) यह क्या ? साँपने मेढ़क को छोड़ दिया ? चलो बाबा, बिल्ली के भाग से छींका टूटा !

(हाँफते हाँफते जाना)
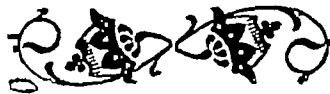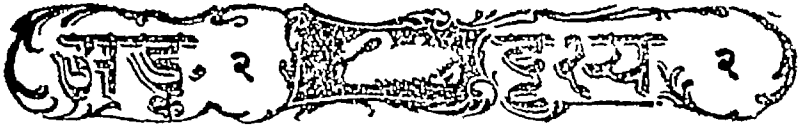
जोधपुर का राजभवन।

(राजसिंहासन पर राजा गजसिंह बैठे हैं, एक ओर प्रधान हरिदास और दूसरी ओर उनके पुत्र अमरसिंह बैठे हैं, सहेलियाँ गाती नाचती हैं)

सहेलियाँ— गाना।

तक तक मारत तीर—उई मै मर गई०—
उठत कलेजे पीर सखीरी मैं लुट गई। तक०—
बर्छी का मारा सो कर जागे।
नैनों का मारा पानी न मांगे॥
तड़पत हूँ बिन नीर—उई मैं मर गई०—
बाहर का योगी योग रमावे।
घर का योगी आग लगावे॥
कांपत मोर शरीर—उई मैं मर गई०—
नैन कटारी मोरे हिय बिच मारी।
प्रेम की पड़ी लकीर—उई मैं मर गई०—

हरी०—महाराज की जय हो! मेवाड़ से यह पत्र आया है।

गज०—ओह, चींटी भी दौड़ने का साहस करे? भुनगा भी उड़ने की इच्छा रक्खे? सारा राजपूताना जिसकी प्रभुता के आगे

शीश झुकाये, देश-विदेश में जिसके नाम की ध्वजा फहराये, उस प्रतापी सूर्य से एक पक्षी आँखे मिलाये ?

हरि०—कभी नहीं महाराज !

गज०—बालू का कण यमुना की लहरों को रोकना चाहता है ? बरसाती नाला हिमालय से टकराना चाहता है ?

हरि०—कदापि नहीं महाराज !

अमर०—पिता जी ! देश का भक्त, सत्य का उपासक, आपत्ति को नहीं, अपनी उपासना को देखता है। उसके हृदय-द्वार पर कर्तव्य, साहस की तलवार लेकर पहरा देता है।

गज०—क्या कहा, गूंगा वक्ता बनेगा ? सरोवर उमड़ कर सागर होगा ?

अमर०—पौरुष, वीरता का गदा लेकर जहाँ का रक्षक हो, पराक्रम, सत्यता का कवच पहन कर जिसका सहायक हो, वह अपनी आँखों के सामने अमावस्या का अंधकार होने पर भी सब कुछ देखता है। वह निर्मलता की गोद मे खेलता और उसका कार्य सूर्य-किरण की भांति उज्ज्वल होता है।

गज०—अमर ! जान बूझ कर काँटो की शैय्या पर सोना, शूलों के मार्ग में चलना, कर्त्तव्य नहीं, मूर्खता है। एक पखेरु का उड़कर आकाश छूने की लालसा करना, उसकी मदान्धता है।

अमर०—नहीं, यह वीरत्व का उद्गार, पुरुषत्व का शृंगार और देश हितैषियों की सत्ता है।

गज०—चुप रहो, अभी नवयुवक हो, राज-कार्य से अपरचित

हो। जब एक पशु भी अपने विपक्षी को सबल देखकर उसकी आधीनता स्वीकार कर लेता है, तो वह मनुष्य, जो अपने पूर्वजों का विनाश देख चुका हो, हठ और विद्रोह का अनुभव कर चुका हो, कैसे आँखे रहते अंधा हो जाये ?

अमर०—पिता जी ! स्वाधीनता का गौरव भिक्षा-दान मे नहीं, वलिदान में है। आनन्द और दासत्व के भवन में नहीं, कर्तव्य के अनुष्ठान में है।

गज०—वस, मुख बन्द करो। पिता के सन्मुख मूढ़ता का परिचय न दो। यह बालकों का खेल नही है। सम्राट से विरोध करना, आपदाओं के अथाह सागर मे कूदना है।

(एक चोबदार का आना)

चोब०—महाराज की जय हो !

गज०—क्या है ?

चोब०—मेवाड़ का दूत दर्शन चाहता है।

गज०—उपस्थित करो।

चोब०—जो आज्ञा ?

गज०—ओह ! सम्राट का विद्रोही मुझसे सम्बन्ध की आशा करे ? एक काग राजहंस का नातेदार बने ?

अरुण०—(आकर) सेवक प्रणाम करता है।

गज०—दूत ! जाति का शत्रु, कुल का शत्रु, धर्म का शत्रु कहीं न कहीं आश्रय पा सकता है। पर ईश्वर का शत्रु आकाश पाताल में कहीं भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

अरुण०—ईश्वर का शत्रु ?

गज०—हाँ, सम्राट का दूसरा नाम ईश्वर है और सम्राट का कोप ईश्वर का कोप है।

अरुण०—यह महाराज के विचार हैं ?

गज०—मेरे ही नहीं, वरन् समस्त राजपूताने के। इसमें अज्ञानता का मिठास नहीं, ज्ञान का कडुआपन है। याद रक्खो, कल्पनाओं का सुख मन को उत्साहित कर सकता है, पर संग्राम में विजयी नहीं हो सकता।

अरुण०—महाराज! आप भी उसी वंशज के गौरव, उसी जाति के भानु हैं। मेवाड़ की अवहेलना आपको नहीं शोभायमान है।

गज०—खोंटा होने से सोना भी पीतल कहलाता है। एक मछली के दुर्गन्ध से सारा तालाब गन्दा हो जाता है।

अरुण०—महाराज! क्षमा करें। यदि स्वधर्म का नाम पीतल और स्वराज्य का नाम दुर्गन्ध है, तो मै ऐसे सुगन्धि से, जो पराधीनता की वाटिका मे दासत्व के फूलो से पैदा हो, उस दुर्गन्धि को ही हितकर कहूँगा, जो मस्तक को स्वतंत्रता से ऊँचा रखता है। उस पीतल को ही स्वर्ण से बढ़कर समझूँगा, जो विजाति की सेवा से नहीं, जाति के तेज से चमकता है।

गज०—युवक दूत! तुम्हारी बातों पर मुझे हँसी आती है।

अरुण०—मुझे भी आश्चर्य होता है। मैं राणा के पत्रोत्तर की प्रार्थना करता हूँ।

गज०— (पत्र दिखाकर) राणा का पत्र ? जिसकी एक एक पंक्ति
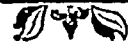
विद्रोह की लेखनी से लिखी गई हो ? जिस पत्र का आशय अज्ञानता का हास्य हो ?

अरुण०—महाराज ! स्वतंत्र विचार के अक्षर कागज पर निर्मलता से बिखरे रहते हैं। उनमें कपट के, संकोच के नहीं, निर्भयता के भाव झलकते हैं।

गज०—यही तो तुम्हारे राणा की दुर्भावना है।

अरुण०—नहीं, यह केवल आपके मन की दु:कल्पना है ?

गज०—चुप रहो ! तर्क से अपनी शठता को न जगाओ। सम्बन्ध, नाता, उससे किया जाता है, जिसमे बुद्धि हो, विवेक हो, स्नेह हो, मिल्लत हो। उससे नहीं, जो विद्रोही मूढ़ और गर्व में उन्मत्त हो।

अरुण०—मूढ़ ? उन्मत्त ?

गज०—हाँ, मूढ़, उन्मत्त और उद्धत ! विराट सागर मे अग्निकण फेंक कर उसे शुष्क करना महामूढ़ता है। जहाँ चारों ओर भारत में सम्राट का यश गुँजायमान हो, वहाँ मेवाड़ का यह दुर्भाव उसकी धृष्टता है।

अरुण०—राजन् ! यह आप नहीं, आपकी ईर्ष्या कह रही है। मेवाड़ के शिखर पर गौरव की किरणें देखकर आपके मन मे जलन हो रही है।

गज०—मेरे मन में......?

अरुण०—जी हाँ ! जिनके सर नंगे हैं उनको दूसरो के मस्तक का मुकुट काँटे की तरह खटकता है। एक नास्तिक कब दूसरे आस्तिक से सहमत हो सकता है ?

गज०—दूत ! दूत.....?

अरुण०—महाराज ! जहाँ स्वाधीनता का अस्तित्व नहीं, स्वजाति और स्वधर्म की सत्यासत्य नहीं; वहाँ लोभ और द्वेष निवास करते हैं। आधीनता के उपासक नास्तिक क्या, अपाहिज और नपुंसक कहे जा सकते हैं।

गज०—बस बस, यदि दूत की मर्य्यादा को अपमान और अनादर से ठुकराते नहीं देखना चाहते, तो अपने भूल की क्षमा माँगो।

अरुण०—मैं क्षमा मागूँगा, चरणो पर शीश नवाऊँगा, किन्तु किसी भय से सत्यता को न छोड़ूँगा।

गज०—दूत ! तू अवध्य है। अन्यथा इस धृष्टता का दंड......

अरुण०—महाराज ! आश्चर्य्य है कि आपमें नीति भी है ?

गज०—क्यों ?

अरुण०—इस हेतु कि द्वेष के स्थान पर नीति का नहीं, स्वार्थ का वास रहता है।

गज०—बावले ! तुझे मालूम है कि तू किसके सन्मुख बातें कर रहा है ?

अरुण०—उसके, जो दक्षिण मे बादशाह की ओर से युद्ध करके आज पराधीनता के भवन में उत्सव मना रहा है। उसके, जो विजातियो की रक्षा और लाभ के लिये अपने कुल और गौरव को ठुकरा रहा है।

गज०—ओह ! यह उन्मत्त का प्रलाप ?

अरुण०—देश की आन पर।

गज०—मेरे सन्मुख निर्भयता का अलाप ?

अरुण०—क्षत्रियत्व के अभिमान पर।

गज०—मूर्ख ! चांडाल ! मेढ़क भी साँप को आँखें दिखाये ? काग भी कोयल को राग सिखाये ? अमरसिंह ! बंदी कर लो इस दुरात्मा को।

अरुण०—महाराज ! मुझे चाहे बंदी करलें, अथवा खड्ग का निशाना बनादें। किन्तु मैं फिर कहता हूँ कि आपने एक बार गुजरात जीता है तो इस बार मेवाड़ भी जरूर पधारियेगा।

गज०—अमरसिंह ! तुम खड़े हो, आगे नही बढ़े ?

अमर०—पिता जी ! यह दूत है। दूत को बंदी करना नीति नहीं ?

गज०—इसका निर्णय मुझ पर है। तुम इसे कैद कर लो।

अमर०—किन्तु दूत पर अत्याचार करना, क्षत्रियो की धर्म-रीति नहीं।

गज०—हैं ! तुम मुझे धर्माधर्म का उपदेश सुनाते हो ? जिस भूमि की मिट्टी से उत्पन्न हुए, उसकी आज्ञा को धूलि कहकर कानो पर उड़ाते हो ? अमर ! पिता आज्ञा का उलघन, राजाज्ञा की उपेक्षा, उस वृक्ष की जड़ काटना है, जिसकी साया मे सोना है।

अमर०—पिताजी ! क्षमा करेंगे। धर्म और पाप, न्याय और अन्याय, लोभ और स्वाधीनता आपस में टकरा रहे हैं।

गज०—उद्धत बालक ! तू मेरा बड़ा पुत्र है।

अमर०—न्याय की रक्षा के लिये ?

गज०—इस राज्य का उत्तराधिकारी है।

अमर०—सत्य की दीक्षा के लिये।

गज०—तो मेरे आज्ञा—पालन से इनकार।

अमर०—अन्यायपूर्ण आज्ञा पालन से अमर है लाचार।

गज०—ओ मेरी कृपा के भिक्षुक! मालूम हुआ कि तेरा भविष्य आज हठ और उद्दंडता के सागर में विलीन होनेवाला है। तेरी मदान्धता का फूल, राजकोप के उष्ण वायु में झुलसने वाला है।

अमर०—पिता जी। मैं ऐसे दुरभविष्य को, जिसमें आत्माका हनन करना पड़े-न्याय को अन्याय के पैरों से कुचलना पड़े—नहीं चाहता। विजातियों की ठोकर से रौंदे हुए इस पद को, उनकी करुणा से गिरे हुए इस सिंहासन को, स्वधर्म के हाथों नहीं खरीद सकता।

गज०—पछतायेगा?

अमर०—जाति सेवा से वंचित होकर?

गज०—निर्वासित कर दिया जायेगा?

अमर०—पराधीनता की बेड़ी तोड़कर।

गज०—बस, बस, विद्रोही, मुँहफट! जा, तेरी इस शठता का दंड निर्वासन है। अब और आजसे इस सिंहासन का उत्तराधिकारी मेरा छोटा पुत्र यशवंत होगा।

अमर०—स्वीकार है। प्रणाम!

(गजसिंह का क्रोधावेश में बाहर जाने का इशारा करना, आगे आगे अमरसिंह पीछे पीछे अरुणसिंह का जाना)

महावत खाँ का भवन।

(महावत खाँ का हाथ में एक पत्र देखते हुए प्रवेश)

महावत०—वृक्ष का पत्ता वृक्ष से विलग कर देने से मुर्झा जाता है। पक्षी का बच्चा अपने माता पिता से अलग कर देने पर रोता चिल्लाता है। तो वह पत्नी, जो ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ जीव हो, जिसका जीवन मरण पति के चरणों मे हो, उसका मन मेरे परित्याग से कितना रोता होगा ! आह ! आज उसके किशोर मुख का प्रेम, पश्चाताप के आँसू बन कर मेरी आँखों में सूख रहा है। उसके विशुद्ध स्नेह का तिरस्कार करके मेरा हृदय रो रहा है। प्राणेश्वरी! तू मेरे सुख, दुख, उन्नति, अवनति की साथिन, मेरे जीवन संसार की रानी थी। तू पुण्य की देवी, कल्याण की प्रतिमा और मेरे एकान्त में प्रकाश करने वाली ईश्वरीय वाणी थी। मैं अपनी भूल पर लज्जित हूँ, तुमसे क्षमा माँगूँगा। (पहरेदार का आना)

पहरेदार—खादिम आदाब बजा लाता है।

महावत०—क्या है ?

पहरेदार—महाराज गजसिंह तशरीफ लाये हैं।

महावत०—गजसिंह ? जोधपुर के राजा ?

पहरेदार—जी खुदावन्द ?

महाव्रत०—जाओ ले आओ।

पहरेदार—जो हुक्म। (जाना)

महाव्रतखां—हैं! सरोवर गंगा से मिलना चाहता है? शृगाल सिंह से भेंट करना चाहता है? कायर, अधम, वीरता का गर्व करे? मुगलों का दास, अधिराज बने? (गजसिंह का आना)

गजसिंह—खां साहब! आदाब अर्ज है।

महावतखां—तस्लीमात। कहिये राजा साहब! आज कैसे तकलीफ उठाई?

गजसिंह—आपके दर्शन के लिये।

महावतखां—मेरा दर्शन? ठीक है, हिन्दुओ को मुसलमानों का दर्शन करनाही चाहिये। भारत के आस्तिक को नास्तिक बनना चाहिये।

गजसिंह—आप और ऐसा कहें?

महावतखां—इस लिये कि मैं मुसलमान हो गया हूँ और आप हिन्दू हैं।

गजसिह—तो आप हिन्दू धर्म पर आक्षेप करते हैं?

महावतखाँ—कभी नहीं, हिन्दू-धर्म आकाश की तरह स्वच्छ, चन्द्रमा की तरह शीतल, गंगा की तरह पवित्र और सूर्य की तरह प्रकाशमान है। यही जाति वह दया की मूर्ति है, जहाँ प्रवृत्ति का दमन और धर्म का परम विकाश होता है। यही वह सनातन कर्म है, जहाँ पुण्य, न्याय, आचार और विश्वास रहता है।

गजसिह—तो ऐसे धर्मात्मा हिन्दूओं के प्रति यह उदासीनता?

महावतखां—गजसिंह ! यह उदासीनता नहीं, उन हिन्दुओं की प्रशसा है।

गजसिंह—प्रशंसा ?

महावतखां—हां। अपने को देखिये कि आपने उदारता के कारण ही अपने जानकी बाज़ी लगा कर गुजरात इत्यादि को जीता है। यह आपही का परोपकार है जो चारो ओर मुग़ल सम्राट का सिक्का बैठा है।

गजसिंह—पर इस यश के भागी आप भी तो है ?

महावतखां—नही, मैं नहीं हो सकता।

गजसिंह—क्यो ? क्या आपने अपनी जवांमर्दी और बहादुरी से सम्राट को मदद नहीं दी ?

महावतखां—लेकिन वह जवांमर्दी मुस्लिम-धर्म के हाथो बिकी हुई थी। फख्र तो आपको होगा कि आपने हिन्दू-धर्म रखते हुए भी विधर्मियों की सहायता की।

गजसिंह—तो कया पुन हिन्दू होने का विचार है ?

महावतखां—कभी नहीं। सच्चा जीवन वही है, जो जिस धर्म में रहे उसका पालन करे। यह मनुष्यत्व नही पशुता है, जो धर्म की आड में धर्म पर आघात करे।

गजसिंह—मेरा भी ऐसाही विचार है।

महावतखां—क्यों नहीं, आखिर तो आप हिन्दू जगत के राजा ठहरे।

गजसिंह—खां साहब ! आज मैं आपके पास बादशाह के जरूरी काम से आया हूँ।

महावतखां—कहिये कहिये क्या आज्ञा है ?

गजसिंह—आप जानते हैं कि शाही फौज मेवाड़ मे कई बार शिकस्त खा चुकी और उस तौहीनी का शाह के दिल में बहुत मलाल है।

महावतखां—तो क्या इस बार आप युद्ध मे जांयेगे ?

गजसिंह—नहीं, उस तौहीनी का बदला, शाह आपकी तलवार से लेना चाहते हैं।

महावतखां—भला आप जैसे मुग़ल हितैषी वीर के रहते मैं और मेरी तलवार क्या ?

गजसिंह—नहीं नहीं खां साहब! ऐसा न कहिये। सूर्य बादलों में अपने को छिपा सकता है पर अपनी प्रभा को नहीं छिपा सकता। यह मैं जानता हूँ, कि मेवाड़ आपका जन्मस्थान है, अमर सिंह आपके भाई हैं, फिर भी वहाँ की क्रूरता से आपने उसे एक दम परित्याग कर दिया है।

महावतखां—गजसिंह! दिन भर हवा में उड़ने वाला पखेरू भी जब अपनी जन्मभूमि का ख़्याल रखता है तो वह मनुष्य, जिसका शरीर मेवाड़ के अन्न जल से पला हो, जिसकी बुद्धि वहाँ के घी दूध से परिपक्क हुई हो, क्या उसे ख्याल न होगा ?

गजसिंह—लेकिन ख्याल वहाँ का होता है, जहाँ मुहब्बत हो, मिल्लत हो, सम्मान हो। वहाँ का नहीं, जहाँ चारो तरफ नफ़रत से उंगलियाँ उठे और ताना भरी बातों का इज़हार हो ?

महावतखाँ—किन्तु फिर भी मेवाड़ के एक एक परमाणु का

मैं ऋणी हूँ। उसी भूमि की मिट्टी से निकला हुआ एक कण हूँ।

गजसिंह—जहाँ के लोग भाई चारा के बदले घृणा से निहार रहे हैं? जहाँ के वृद्ध, वालक, युवा, आपको विधर्मी नाम से धिक्कार रहे हैं? खाँ साहब! अपने हृदय से इस विचार को निकाल दें, कि राजपूत पुन आपको भाई कहकर पुकारेंगे। कौमी मुहब्बत और हमवतनी के ख़्याल से आपको गले लगायेंगे।

महावतखाँ—राजासाहब! मनुष्य की शठता, मनुष्य सम्बन्ध का परित्याग करा सकता है, पर मनुष्य के हृदय से जन्मभूमि जननी का प्रेम नहीं मिटा सकता। मैं जाति और धर्म का भूखा नहीं, पर जननी के स्नेह का अवश्य उपासक हूँ।

गजसिंह—किन्तु आजीवन जब मुग़लों से सम्बन्ध रखना पड़ेगा तो मुगलों की उन्नति आपका मान, उनकी अवनति आपका अपमान है। मुगलों का आधिपत्य आपका प्रभुत्व और उनकी अवहेलना आपका अवसान है।

(एक सिपाही का प्रवेश)

सिपाही—खादिम आदाब बजा लाता है।

महावतखाँ—क्या है?

सिपाही—एक सन्यासी आना चाहते हैं।

महावतखाँ—सन्यासी?

सिपाही—जी हजूर।

महावतखाँ—अच्छा आने दो।

सिपाही—जो हुक्म।

महावतखाँ—(स्वगत) सन्यासी और मेरे यहाँ? क्या रहस्य?

(सन्यासी भेष में सगरसिंह का प्रवेश)

महावतखाँ—कौन पिता जी? आप और सन्यासी भेष मेंयहाँ?

सगर०—महावत! आश्चर्य न करो। जिस सुन्दर वृत्त में काँटे पैदा होते हैं, उसमें फूल भी खिलते हैं। जहाँ दिन मे सूर्य अपनी ताप से जलाता है, वहाँ रात्रि में चन्द्रमा सुधा से शीतल करता है।

महाव्रतखाँ—यह कैसा भाव?

सगर०—यही वह भाव है जो देश, जाति, और धर्म को कुचलने वाले जीवन का पुनर्जीवन करता है। यही वह भाव है, जो विजातियों के करुणा की भित्ता चाहने वाले मनको स्वत्व से जागृत करता है। महावत! तुम्हारे मनके सोये हुए इसी भाव का जगाने के लिये मैं यहाँ आया हूँ। जननी का आह्वान कैसा गम्भीर, कैसा करुण और कैसा गद्गद् है, सुनाने के लिये तुमसे मिला हूँ।

महावतखाँ—मुझे सुनाने के लिये?

सगर०—हाँ, तुम्हें! स्नेहमयी मातृभूमि की करुण-पुकार को सुनो। मैं अपने पाप का प्रायश्चित कर रहा हूँ, तुम भी अपने पापों का प्रायश्चित करो।

महावतखाँ—मैंने पाप किया?

सगर०—मुझसे भी ज्यादा। मैं स्वजनों का परित्याग कर मुग़लो का दास हुआ था, पर तुमने जाति और स्वजन दोनों को छोड़कर महापाप किया। जिस धर्म का विकाश सर्वभूतो पर

दया करना है, एक चींटी से भी सहानुभूति रखना है, उसको मटियामेट कर दिया।

महावतखाँ—पिताजी ! ऐसा न कहिये। यदि मेरा यही विश्वास हो कि इस्लाम धर्म सत्य है... ..

सगर०—मैं किसी धर्म की निन्दा नहीं करता। किन्तु जो व्यास, कपिल और शंकराचार्य के धर्म मे पैदा हुआ है, वह हिन्दू-धर्म पर भी अविश्वास नहीं कर सकता।

महावतखां—आश्चर्य है, कि आज आपके धर्म की व्याख्या...

सगर०—मुझे खुद आश्चर्य है, कि जिसने संसार में धन के सिवा दूसरा कुछ न जाना, धर्म कर्म और जाति को पाखंड माना, आज कैसे सत्य के मैदान मे निर्भयता से चल पड़ा।

महावतखाँ—किसी भय से या विवाद से ?

सगर०—नहीं, जननी की आर्तनाद से, धर्म के उन्माद से, कल्याणी के सुसम्बाद से।

महावतखाँ—कल्याणी ?

सगर०—हाँ, उसका मधुर स्वर मेरे कानो मे संगीत की स्मृति के समान गूंज रहा है। उसकी बातें सुन कर मेरी आत्मा अनन्त अकाश की ओर बढ़ रही है।

महावतखाँ—उसने क्या कहा ?

सगर०—उसने कहा, यदि संयोग वश हमारे उच्च प्रवृत्तियों का तार ढीला पड़ गया हो तो पुनः हमें उसका सुधार करना चाहिये। हम कौन हैं ? क्या हैं ? स्वार्थ और द्वेप के कारण उसे

न भूलना चाहिये। महावत! वैभव लुट जाने पर मिल सकता है, शरीर क्षीण होने पर सुधर सकता है, अपने पराये विरुद्ध होकर पुनः गले मिल सकते हैं, पर धर्म ही एक ऐसा रत्न है, जो खो जाने पर प्राण के बदले भी नहीं प्राप्त हो सकता।

महावतखाँ—ओह! धर्म का इतना महत्व?

सगर०—इससे भी विशाल। धर्म के बल पर है यह पृथ्वी, धर्म के सहारे खड़ा यह आकाश है। धर्म में बंधकर चलते चांद सूर्य, धर्म का ही देखो विश्व में विकाश है। और धर्म रक्षा के लिये वह नारी, गली गली भटक रही है।

महावतखाँ—गली गली भटक रही है?

सगर०—हाँ, तुम्हारी ही आराधना के अपराध में उसके पिता ने उसे घर से निकाल दिया।

महावतखाँ—ओह! जब तो बड़ा अनर्थ हुआ?

सगर०—महावत! धर्म की प्रबल धारा को अनर्थ का पर्वत ही क्या, इन्द्र का वज्र भी नही रोक सकता।

महावतखाँ—बस करो पिताजी! बस करो। जले हृदय पर नमक न छिड़को। गंगा की महिमा निर्मलता से नहीं, पवित्रता से है। चन्द्रमा की बड़ाई उज्ज्वलता से नहीं, शीतलता से है। जिस हिन्दू-धर्म मे विधर्मियों के प्रति इतनी घृणा और विद्वेष की आंधी उठ रही हो, उसकी अधिक प्रशंसा न करो।

सगर०—महावत खाँ........?

महावतखाँ—कहो, क्या यही हिन्दू-धर्म की उदारता है, कि

कल्याणी को उसकी पतिभक्ति का पुरस्कार घर से निकाला मिला? क्या यही अति उदार सनातन धर्म है, जिसकी दया में सहानुभूति नहीं, निष्ठुरता है? ओ हिन्दू! हिन्दूधर्म! आज विदित हो गया, कि तुम्हारे धर्म का महत्व, तुम्हारे कर्मों की श्रेष्ठता केवल पुस्तकों में पढ़ने और दूसरों को सुनाने के लिये है। तुम्हारी दया, सान्त्वना, डूबतों को बचाने के लिये नहीं, डुबाने के लिये है।

सगर०—महावत! यह क्या कहते हो?

महावतखाँ—वही, जो आज हिन्दुओं की वाह्यलीला, दया की ओढ़नी ओढ़कर दुष्कृत्य कर रही है। वही, जो आज उच्च धर्म की आड़ में तुम्हारी ईर्षा कठोरता की छूरी बन कर चल रही है। ओह! जिस नारिजाति के बल पर आज भारत भारत बना है, जिस पातिव्रत्य के प्रताप ने इन्द्रासन को भी हिला दिया था, उस पातिव्रत्य का यह पुरस्कार? जिस पतिभक्ति के तेज ने सूर्य को भी ढक लिया था, उस नारी का ऐसा तिरस्कार? बस, मैं प्रायश्चित करूँगा और अवश्य करूँगा।

सगर०—प्रायश्चित करोगे?

महावतखाँ—हाँ, लेकिन इसलिये नहीं कि मैं मुसलमान हो गया हूँ, बल्कि इसलिये कि किसी समय हिन्दू रहा।

सगर०—क्या हिन्दू रहने का प्रायश्चित?

महावतखाँ—हाँ, उसी पाप का प्रायश्चित, उसी अपराध का प्रायश्चित, उसी दुष्कर्म का प्रायश्चित। पिता जी! आज मेरे हृदय की बची खुची अनुकम्पा हिन्दू-धर्म की अग्नि मे जल रही है। मेरे

अनुकम्पित हृदय में विद्रोह और प्रतिहिंसा की ज्वाला प्रबल हो रही है।

सगर०—तो क्या युद्ध करोगे ?

महावतखाँ—हाँ किन्तु देश के लिये नहीं, हिन्दूधर्म के लिये। यश और राज्य के लिये नहीं, हिन्दुओं के कुकर्म के लिये।

सगर०—महावत ! किसी भूलपर अपनों से विद्रोह करना....।

महावतखाँ—पिता जी ! यह प्रायश्चित किसी लोलुप राजा का नहीं, कामुक मनुष्य का नहीं, महावत की प्रतिज्ञा है। आपका उपदेश हिमालय बनकर भी मेरी राह को नहीं रोक सकता। आपका आदेश भूचाल होकर भी मेरे संकल्प को नहीं तोड़ सकता।

चले आंधी, उठे भूकम्प, जलामय भूतल हो जाये।
प्रतिज्ञा जो हुई मन में, नहीं भय से वह टल जाये॥

सगर०—महावत ! यह प्रतिज्ञा नहीं तुम्हारी दुर्मति है।

महावतखाँ—आपका समझाना वृथा है।

सगर०—यह भीषण अधोगति है।

महावतखाँ—मेरे हृदय की व्यथा है।

सगर०—जा कुलांगार ! यदि तेरे आँखों पर हठ का अंधकार छा गया, तो जा अन्धकूप में गिर।

(क्रोध से चले जाना)

महावतखाँ—ओह ! इतना राग, इतना आक्रोश। ओ धर्म का जामा पहिने हुए मतिमंदों ! उदारता का चेहरा लगाये हुए सनातन धर्मियों ! तुम्हारी जाति, धर्म, इसी योग्य है, कि विधर्मी तुम से

घोर प्रतिद्वन्द मचायें। तुम इसी लायक हो, कि तुम्हारे अहंकार को चूर्ण कर, तुम्हारा नामोनिशां मिटा दिया जाये।

गज०—खां साहब! शान्त हूजिये।

महावतखाँ—गजसिंह! मेरे हृदय की अग्नि तुम्हारे सान्तवना से नहीं, राजपूतो के खून से बुझेगी। ओह! चाहे जो भी हो, पर मुस्लिम-धर्म में अभी इतनी उदारता और इतना महत्व है, कि वह दूसरी जाति को छाती से लगा लेता है। पर वर्षों तपस्या और प्रायश्चित करने पर भी हिन्दू-धर्म, विजातियों को पैरों से ठुकरा देता है।

गज०—तो आप मुझे क्या उत्तर देते हैं?

महावतखाँ—जाइये, सम्राट् से कह दीजिये, कि मैं एक बार नहीं, दस बार, मेवाड़ पर चढ़ाई करूँगा और अपने हृदय की आग बुझाने के लिये राजपूतों के रक्त की आहूति दूँगा।

गज०—आपकी इस ख़ैरख़्वाही और फ़रमाबरदारी के लिये.........।

महावतखाँ—ठहरिये, इस फ़रमाबरदारी को चापलूसों के लिये अपने मुख में बंद रखिये। महावतखाँ किसी ख़ैरख़्वाही के लिये नहीं, तुम्हारी जाति के अहंकार को मिटाने के लिये मेवाड़ पर चढ़ाई करेगा। जाइये तैयारी कीजिये।

गज०—अदाब!

महावतखाँ—तस्लीम। (दोनों का दो ओर जाना)
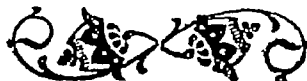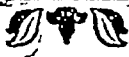
शाह जहाँगीर का भवन।

(आगे आगे जहाँगीर का क्रोधावेश में और पीछे पीछे हिदायत खाँ का आना)

जहाँगीर—चुप रहो। तुम खुशामदी हो, बुज़दिल हो, तुम्हारी बातें मीठी, लेकिन हरकतें दिल मे सूराख़ करने वाली हैं।

हिदायत०—जहाँपनाह! मै क़सम खाकर कहता हूँ......।

जहाँगीर—नामर्द! काहिल! तुम सूरत मे शेर, सीरत में स्यार हो। जंगे मैदान मे बुज़दिल जलीलो ख़्वार हो।

नाम केहो मर्द पर तेग़े रवा न ी।
लानती इन्सां किसी मर्ज़ की दवा नहीं॥

हिदायत०—बजा है हुज़ूर!

जहाँगीर—मारते या मारे जाते नाम रौशन कर जाते।
ग़ैरते सूरत न दुनिया को तुम दिखलाते॥
है दिलेरों के लिये डूब मरना यह शिकस्त।
उम्र भर भूलेगी नही, जो कराई तुमने हतक॥

हिदायत०—हुज़ूर! मैं बिल्कुल बेक़सूर हूँ।

जहाँगीर—ओह, इससे बड़ा क़सूर और क्या हो सकता है, कि दुश्मनों के घेरे मे पड़कर तुमने हाथों मे हथकड़ियाँ डलवालीं। ज़ूब मे क़ूवत, दिल में हिम्मत, चेहरे पर मूँछ रखते हुए भी औरतों
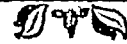
की तरह चूड़ियाँ पहन लीं ? अपने साथ परवेज का भी नामर्दी का जामा पहनाया ? शाही नामों निशां को तौहीनी का बट्टा लगाया ?

हिदायत०—हुजूर! मेरी तलवार........।

जहाँगीर—बस, बस, मुँह बंद करो। झूठी गफ्तगू से शाही रुतबे को नापाक न करो। जवांमर्द था अब्दुल्ला, कि दुश्मनो से लड़कर जान दे दी। नामर्द हो तुम कि तुम्हें मरने की जगह भी न मिली ?

हिदायत०—जहाँपनाह! बंदा तो चाहता था, कि जंग में मारा जाय। लेकिन मेरी बीवी की क़िस्मत में रांड होना बदा न था।

जहाँगीर—बस, जाओ। मेरे सामने से अपना काला मुँह लेकर चले जाओ।

हिदायत०—जो हुक्म ?

(हिदायत का जाना, एक सिपाही का आना)

सिपाही—खादिम आदाब बजा लाता है।

जहाँगीर—क्या है ?

सिपाही—राजा सगरसिंह तशरीफ लाये हैं।

जहाँगीर—इज्जत से ले आओ।

सिपाही—जो हुक्म ?

जहाँगीर—काँपता है खौफसे मेरे जमीनों आसमां।
सिज़दा करता है मेरी चौखट पर सारा जहाँ॥
हैं लरजते वीर रुस्तम जो कि हमसानी रहे।
सिक्का था भारत में जिनका वे भी पानी हुये॥

सगर०—(आकर) जहाँपनाह की ख़िदमत में आदाब!

जहाँगीर—राजा साहब ! जो दिल खुशकिस्मती का पत्थर बना हुआ दुश्मनों की दरिया मे बैठा हुआ था, वह काई की तरह दरिया के ऊपर आकर कैसे फट गया ? जिस सर पर मेवाड़ का ताज मेरे हाथों से जगमगा रहा था, वह किस तरह अमरसिंह के आगे झुक गया ?

सगर०—द्वेष और लोभ हमेशा स्वार्थ की पूजा करते हैं, पर कभी कभी वह समय भी आ जाता है, जब स्वार्थ को भी इन्साफ की पूजा करना पड़ता है।

जहाँगीर—इन्साफ ? मेरे हुक्म के सामने इन्साफ ?

सगर०—माफ करेंगे। दगा फरेब और चोरी नामुसिफी के परदे में छिपायी जा सकती है, पर इन्साफ और सचाई को जहाँन की कूबत भी नहीं छिपा सकती।

जहाँगीर—तुम और इन्साफ ?

सगर०—हुजूर ! जब मेरे दिल ने, दिमाग़ ने, नज़र ने, उस इन्साफ को कबूल कर लिया तो मैंने चित्तौर का किला अमरसिंह को सुपुर्द कर दिया ?

जहाँगीर—लेकिन दूसरों के हाथ की बख़्शी हुई चीज़ को तुम्हे देने का क्या अख़्तियार था ?

सगर०—जहाँपनाह ! अख्तियार होता है अपने पसीने की दौलत से शाहीमहल बनवाने पर। अख्तियार होता है बहादुरी से मैदान जंग में कब्जा पाने पर। चित्तौर धोके और दग़ा से शाह-शाह अकबर के पास आया था। बाकायदा लड़कर नहीं, उन्होंने धोके से जयमल को मरवाकर इसे पाया था।

जहाँगीर—सगरसिंह ! पानी में डूबने पर खूबसूरत जहाज़ का कोई न कोई तख़्ता पानी पर जरूर तैरता रह जाता है। लेकिन शाही खिताब से तुम गजसी जहाज बने हुए बिलकुल डूब गये ?

सगर०—शाहंशाह माफ करें। बंद आँखों के सामने दुनिया की रोशनी और खूबसूरती का नज़ारा कालीरात के समान है। लेकिन आँखों के खुलते ही खुदाई रौनक, एक अजीबो गरीब शान है।

जहाँगीर—खुदाई रौनक़ ?

सगरसिंह—जी हाँ। मैंने एक नई रौशनी, एक नया नूर देखा। मुद्दत का पड़ा हुआ परदा मेरी आंखों के सामने से उठ गया। बुज़ुर्गों का गुज़रा हुआ ज़माना मेरी नज़रों के सामने घूम गया।

जहाँगीर—क्या देखा ?

सगरसिंह—बप्पा रावल की फतहसारी, चूड़ाजी की जां निसारी। कुम्भ की बहादुरी, सगरसिंह की दिलेरी और...

जहांगीर—और क्या ?

सगरसिंह—और माता जननी की करुण पुकार। भाई प्रताप सिंह की चमकती हुई तलवार।

जहांगीर—तो शायद तुम्हारा हँसता हुआ दिल रो उठा।

सगरसिंह—जी हाँ, मेरी आत्मा मेरे दुष्कर्मों पर मुझे धिक्कारने लगी। मेरे शरीर का हरेक तार ज़ोरों में बजने लगा।

जहांगीर—फिर ?

सगरसिंह—फिर मेरे रोयें रोयें ने धिक्कार भरे शब्दों मे कहा-स्वार्थी सगर ! शत्रुओ के पक्षपाती सगर ! तुझे नर्क में भी स्थान न मिलेगा। तू किस कुल का लाल है, किस कुल का दीपक है, अब से भी अपने को पहचान ! शाहंशाह ! उसी वक्त आँखो ने मुझ पर घृणा से आँसू बहाये, दिल ने नफरत से गला रूँध दिया। शर्म, ग़ैरत, इन्सानियत, सब मिलकर चिल्लाने लगे।

जहांगीर—लेकिन जानते हो इस मर्ज़ का इलाज मौत है। और वह मौत तुम्हारे चेहरे पर......

सगरसिंह—मौत का डर खुदग़रज दिल को दहला सकता है। जाँ निसारी से खड़े हुए, पहाड़ को नहीं हिला सकता।

जहांगीर—इतनी दिलेरी ?

सगरसिंह—इससे भी बढ़कर ! यदि स्वार्थ का पहला नाम नर्क है, तो बलिदान का दूसरा नाम स्वर्ग है। खुदग़रजी का मालिक शैतान है, तो जांनिसारी का मालिक रहमान है। शाहशाह ! पर-मार्थ की भूमि मे बुद्ध-ईसा और गौरांग निवास करते हैं। वहाँ स्वार्थ, कपट और इर्ष्या नही, स्वजाति, स्वधर्म और स्वाभिमान रहते हैं। वहाँ का कार्य है, लोक-सेवा। देश है दया, और पुरस्कार है जीवनोत्सर्ग।

जहांगीर—तो तुम भी वहीं जाना चाहते हो ?

सगरसिंह—जाना नहीं, मैं तो वहाँ पहुँच गया हूँ। मेरी आत्मा उस देश का भिक्षुक और मेरे हाथ ग़रीबो की सेवा और मदद को तैय्यार हैं। मेरा तन मन धन सब स्वदेश पर बलिहार है।
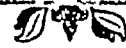
जहांगीर—देखा, यह जाँनिसारी का सबक, ज़बान की तर्रारी से नहीं, मौत की बेज़ारी से याद होगी।

सगरसिंह—वह भी प्रायश्चित होगा।

जहांगीर—यह जवांमर्दी खाक में मिल जायगी।

सगरसिंह—सच्चा देशभक्त मरने से नहीं डरता।

जहांगीर—कोई है ?

सिपहसालार—(आकर) हुक्म शाह !

जहांगीर—क़ैद कर लो इस नक्क़ाल को।

सगरसिंह—शाहशाह ठहरिये। स्वतन्त्रता के पत्थर से बना हुआ देवता, पराधीनता के नहीं, स्वाधीनता के पुष्प-पत्र की पूजा स्वीकार करता है। वह अपवित्र और अधम हाथों के स्पर्श होने से पहले ही आत्म विसर्जन करता है। मेरे पापों के लिये मेरे हाथ की कटार काफी है। (अपने कमर से कटार निकाल कर अपने को मार लेता है) लो देखो, यही मेरे गुनाहों की तलाफी है। आह ..

सिपहसलार—ओह ! मेरा अहम् ?

जहांगीर—देखा, यह है हिन्दू-धर्म ?

(सगरसिंह का गिरकर मर जाना—सबका आश्चर्य से देखना)

अङ्क २ दृश्य ५

राणा का भवन।

(अमर सिंह का शोकातुर प्रवेश)

अमर०—संसार! संसार!! तू कितना छलिया, ढोंगी और प्रवीण है, कि मनुष्य अपने पैरों के नीचे भूकम्प देखकर भी तेरे प्रलोभनों में लिपटा रहता है। रात में शुभ्र चांदनी, जल में लहरों के कल कल शब्द और चारों ओर मधुर वायु का अनुभव करके भी जीवन के सुख दुख में फँसा रहता है।

मानसी—(आकर) पिताजी! आज यहाँ अकेले आप किस विचार में निमग्न हैं?

अमर०—मानसी! चाँदनी की उज्ज्वलता, जल का कलकल संगीत, संसार का मनोहर सौंदर्य, यह सब अंधेरा होते ही लुप्त हो जायगा!

मानसी—पिता जी! ये लुप्त नहीं होंगे, वरन् माता के स्नेह में, भक्त की भावना में और मनुष्य की सुन्दरता में बिखर जाँयेगे।

अमर०—जो मनुष्य हमारे सुख के ग्रास को ललचाई हुई आँखों से देखता है, ईर्ष्या और द्वेष का राक्षस बनकर हमें भक्षण करने के लिये अपना मुख खोले रहता है, क्या वह भी सुन्दर मनुष्य कहा जायगा?

मानसी—यही तो एक मानसिक व्याधि है। आज यदि लोगों से यह मानसिक व्याधि उठ जाये, तो मनुष्य की अनुकम्पा के लिये स्थान भी न मिले। फिर न तो कोई किसी का दुख दूर करे और न कोई किसी को गले लगाये।

अमर०—मानसी! यदि इस व्याधि का दूसरा नाम करुणा है, तो मैं यही कहूँगा, कि यह ससार अधम है।

मानसी—ऐसे संसार को, जो हमे गरमी मे झुलसने पर जल बरसा कर शीतल करता है, जाड़े में ठिठुरने पर अपने सुगन्धित वायु और बसन्त ऋतु से हमारे शीत को दूर करता है, उसे अधम न कहें। दिन की तीव्र ज्योति में घबराने पर यही संसार रात बन कर हमें माता की तरह अपने गोद में सुलाता है। हमारी चिंताओ को दूर करने के लिये, यह अपने सौंदर्य को हमारे ऊपर निछावर कर देता है।

अमर०—यह सतयुग की कहानी है। एक नीहारिका है। इस तुच्छ संसार में केवल एक ही गुण है और वह गुण है, मनुष्य मे ईर्ष्या और द्वेष का उत्पन्न करना।

मानसी—पिता जी! जहाँ फूल होते हैं वही काँटा भी उगता है। विरोध और प्रेम, द्वेष और स्नेह दोनो का सम्बन्ध है, किन्तु शक्ति से बड़ी भक्ति है।

अमर०—मानसी! जिस ससार मे विजातियों की भक्ति हो, जिस जाति मे ऐसी क्षुद्रता हो, उसकी रक्षा मनुष्य क्या स्वयं ईश्वर भी नहीं कर सकता।

मानसी—किन्तु हम तो निरपराध हैं ?

अमर०—इससे बड़ा और क्या अपराध होगा कि हम एक ही जाति में पैदा हुए हैं। देखो, इसी जाति-द्वेष से आज गजसिंह हमारा शत्रु बना है। मुगलों के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने आया है। मानसी ! एक के दोष से डूबती हुई नाव पर बैठे हुए दस निर्दोष भी नहीं बच सकते।

(गोविन्द सिंह का आना, मानसी का जाना)

गोविन्द०—महाराणा ! महावत खाँ ने एक लाख सेना के साथ चढ़ाई की है।

अमर०—तो इसमे आश्चर्य की कौन बात है ? जब समस्त राजपूताने ने मुगलो के आगे मस्तक झुका दिया है, तो अकेला मेवाड़ क्यो सर ऊंचा किये रहेगा ? इस बार बिस्तरे पर पडे हुए मेवाड़ की मृत्यु-पीड़ा का अन्त होने वाला है।

गोविन्द०—फिर युद्ध की तैयारी करनी चाहिये ?

अमर०—इसके सिवा और करेंगे ही क्या ? इस बार बड़ा आनन्द होगा, महाविप्लव होगा। सारा भारत भाई भाई के युद्ध का तमाशा देखेगा !

गोविन्द०—सुना है महावत खाँ के साथ राजपूत कुलांगार गजसिंह भी आया है।

अमर०—ऐसा न कहो गोविन्द सिंह ! वह परम भक्त परम वैष्णव है। कुलांगार हम हैं जो इतने दिनों तक उस एक ईश्वर "दिल्लीश्वरो जगदीश्वरो" को न माना।

गोविन्द०—हा हतभाग्य मेवाड़! राजपूत होकर, राजपूतो का सर्वनाश करें ?

अमर०—गोविन्द सिह! तक्षशीला की कथा याद करो। जयचन्द की बातें स्मरण करो। पहले मानसिंह शक्तसिंह थे, तो अब महावत खाँ और गजसिंह हैं। विधाता ने जिस समय भारतवर्ष को सिरजा था, उसी समय इसके भाग्य मे लिख दिया था, कि इसका सर्वनाश स्वय इसकी संतान करेगी।

गोविन्द०—आपका कहना सत्य है।

अमर०—देखो, जब कोई जाति नष्ट होने के लिये निर्जीव हो जाती है, तब व्याधि प्रबल हो उठती है और फिर घर घर में ऐसे ही विभीषण जन्म लेते हैं।

अरुण०—(घबराये हुए प्रवेश) महाराज! महाराज!!

अमर०—कहो अरुण क्या समाचार है ?

अरुण०—मुगल सिपाही नगर निवासियो के घर जला रहे हैं।

अमर०—तो क्या अनुचित कर रहे हैं? जिसका विध्वस ईश्वर का लेख है, फिर उसका यज्ञनाश कैसे सम्पूर्ण होगा ?

अरुण०—महाराज! यह आप क्या कह रहे हैं?

अमर०—वही जो उचित और यथार्थ है।

अरुण०—तो क्या हताश हो गये ?

अमर०—हताश होकर क्या करना है। युद्ध तो करना ही पड़ेगा।

अरुण०—महाराणा! अभी आपके पास पाँच हजार सेना है।

अमर०—हाँ, एक लाख सेना के सन्मुख पाँच हजार सेना मरने के लिये काफी हैं।

अरुण०—चाहे जो हो, किन्तु हम उनके इस अत्याचार का उनसे पूरा पूरा बदला लेंगे।

अमर०—गोविन्द सिंह! आप चुप क्यो हैं। यही वह आनन्द का दिन है, जब कि घर घर मगल वाद्य बजवाना चाहिये। यही वह समय है, जब दुर्ग पर लाल ध्वजा फहरा कर, मेवाड़ की तपती हुई भूमि को अपने रक्त से जुड़वाना चाहिये।

गोविन्द०—महाराणा! रक्त की वर्षा हो अथवा मेवाड़ के राजपूत उस रक्त मे डूब जायें, किन्तु फिर भी यदि माता की रक्षा हो जाये तो चिन्ता नहीं।

अमर०—किन्तु जब सभी की माता एक दिन मरती हैं तो हम अपनी माता की रक्षा कब तक करेंगे। जो जानेवाला है उसकी चिन्ता ही क्या? उसीके साथ साथ हम भी मरेंगे।

गोविन्द०—ईश्वर ऐसा ही करे!

अमर०—करेगा और अवश्य करेगा। आइये एक बार गले मिल लें और मरने की तैयारी करें। (गले मिलना) जाइये, इस विनाश के सागर में, ध्वस के अग्निकुण्ड में कूदने की तैय्यारी कीजिये।

अरुण०—आपकी जय हो।

(आगे आगे गोविन्दसिंह और पीछे पीछे अरुण का जाना)

अमर०—जय? राजपूतों की जय? हा रे अधम जाति राज-

पूत ! तेरे वंश में इतनी ईर्ष्या, इतना द्वेष ? महावत खाँ अपना भाई होकर आज भाई का रक्त पीने आया है। गजसिंह अपने हाथो अपनी जाति का विध्वंस करने आया है। आह ! आज बिजातियो के टुकड़े पर काग, हंस का शत्रु बन गया। जो था एक दूध से पला वह भी विद्रोही हो गया।

(शोकातुर जाना)
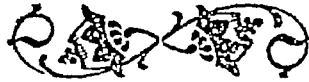
जंगल का मार्ग।

(कल्याणी का गाते हुये, अजयसिंह का शोक के साथ प्रवेश)

कल्याणी— गाना।

स्वामी दरस का मन में झनकार हो रहा है।
प्यासे हृदय में प्रेम का उपचार हो रहा है॥ स्वामी०—
ज्योती बन के आओ, आंखों में समा जाओ।
तुम बिन प्रभो ! अंधेरा, संसार हो रहा है॥ स्वामी०—
मैं हूँ तुम्हारी सृष्टी तुम हो हमारी तृप्ती।
वीणा का तार हिरदय, बेतार हो रहा है॥ स्वामी०—

मन्दिर हूँ मैं तुम्हारी, तुम देव मैं पुजारिन्।
प्राणों का धार हाय ! निराधार हो रहा है ॥ स्वामी०—

अजय०—कल्याणी ! जिसने स्वप्न मे भी घर से बाहर पाँव न निकाला हो, अपने जीवन मे कभी उपवास का मुख न देखा हो, उसका ऐसा महान् तप देख कर मनुष्य तो क्या पशु का हृदय भी रो उठेगा।

कल्याणी—भाई ! समुद्र की ओर बढ़ती हुई नदी, किसी रुकावट या कष्ट को नहीं, अपने मिलन को देखती है। घर की नारी दुख दरिद्रता को सर पर उठाकर भी पति दर्शन से सुखी रहती हैं।

अजय०—किन्तु तुम्हारे दोनो पाँव रक्त से लाल हो रहे हैं।

कल्याणी—यदि ये रक्त की धारायें भी उनके आश्रम तक पहुँच गयो तो मैं अपने को धन्य समझूँगी। मुझे इन पावों की चिन्ता नहीं, स्वामी-चरणो मे स्थान पाने की चिन्ता है।

अजय०—किन्तु इतना कष्ट......।

कल्याणी—जब हृदय का सुख, दुख के कारागार में बंद है तो यह बाहरी कष्ट क्या है ? भाई ! विवाहिता स्त्री, स्वर्ग का सुख नहीं, अपना सुहाग चाहती है।

अजय०—पर थोड़ी देर तो विश्राम कर लो।

कल्याणी—जब मन के भीतर प्रबल हाहाकार हो रहा हो, तो थोड़े विश्राम से क्या लाभ होगा ? जब शरीर मे आत्मा न रहे तो यह शरीर रख कर क्या होगा। चलो, जहाँ इतनी दूर चलकर आयी हूँ, वहाँ स्वामी तक भी चली चलूँगी।

अजय०—किन्तु तुम्हारे निर्बलता से प्रकट हो रहा है, कि अब तुम्हारा एक पग भी चलना हानिकारक है।

कल्याणी—जब तक तुम जीते हो, तुम्हारा भ्रातृ-धर्म जीता है, मेरे शरीर में प्राण है, तब तक मेरी भक्ति के मार्ग मे कोई बाधा नहीं आ सकती।

अजय०—कल्याणी! अपने चेहरे की ओर देखो।

कल्याणी—भाई! नारी के लिये पति-सेवा, संसार के धन से भी मूल्यवान है। मुझे चेहरे की शोभा नहीं, देवता की सेवा चाहिये।

अजय०—तो क्या अपने प्राण दे दोगी?

कल्याणी—जीते जी यह प्राण उन्ही के लिये है और मरने पर भी उन्हीं के पास रहेगा। जब प्राण-पति न हों तो यह प्राण रख कर क्या होगा?

अजय०—धन्य है, तुम्हारे साहस और पातिव्रत को धन्य है।

कल्याणी—चलो भाई चलो, दुख सुख की विवेचना में और विलम्ब न करो।

अजय०—नारी के विशाल हृदय मे पातिव्रत का कितना भाव छिपा रहता है, ओ कठोर हृदयी पुरुषो! इस स्त्री मे देखो। ऐ पवित्र दीपक! तुम एक निर्मल ज्योति हो, जो निष्ठुर पतियों के हाथों से जलकर भी घर में उँजाला फैलाती हो?

(नेपथ्य में)—दोहाई है, दोहाई है, मुझे न मारो।

(दो देहातियों का भागते हुये आना)

१ देहाती—भागो, भागो, मुग़ल सिपाही मारते काटते इधर ही चले आ रहे हैं। सारा गांव जला रहे हैं।

कल्याणी—भाइयों! क्यों भागते हो? क्या भागने से तुम बच जाओग? तुम्हारे घर न जलाये जाँयगे?

२ देहाती—जब जलाये जांयगे तब देखा जायगा? लो वे लोग आ गये। भागो भागो। (दोनों का भाग जाना)

अजय०—हैं, यह चिल्लाहट तो इधर ही बढ़ती आ रही है। ज्ञात होता है, मुग़ल सिपाही पास आ गये।

कल्याणी-अवश्य! हमलोगों को भी सावधान हो जाना चाहिये।

अजय०—कल्याणी! तुम एक ओर हट जाओ। देखूँ मैं इन अत्याचरियों से पीड़ितों की रक्षा कर सकता हूँ या नहीं।

कल्याणी—क्यों भाई! ऐसी निराशा क्यो?

अजय०—इसलिये कि जब चारो ओर आग लगी है तो एक बूंद जल उसे क्या बुझा सकता है। जहाँ टिड्डी दल की तरह शत्रु घेरा डाले हुए हो, वहाँ अकेला अजय क्या कर सकता है।

कल्याणी—साहस और वीरता का पुजारी पर्वत को भी चूर कर डालता है। ईश्वर पर विश्वास करने वाला राक्षसो से भय नहीं खाता।

अजय०—अवश्य! राजपूत आगे बढ़कर पीछे कदम रखना नहीं जानते। वह रण में प्राण दे देना खेल समझते हैं। लो, वे सब आ गये, तुम हट जाओ।

(दो देहातियों का आकर अजयसिंह के पैरों पर गिरना)
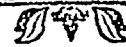
१ देहाती—दुहाई है, दुहाई है, मुझ शरणागत को बचाइये।

२ देहाती—(हाथ जोड़कर) इन अत्याचारियों से मेरी रक्षा कीजिये।

१ सिपाही—(आकर) कहाँ भागा जाता है नाबकार!

अजय०—बस खबरदार!

२ सिपाही—(आकर) तू कौन है मुरदार?

अजय०—तेरा काल, अनाथो का मददगार।

३ सिपाही—(आकर) पागल! जरा सी जान और इतनी लम्बी जबान? देख, आँधी के सामने धूल बनकर न आ।

अजय०—जा जा गुलाम, यह भय किसी दूसरे को दिखा। रणभूमि है क्षत्रिय भूमि, क्षत्रिय के संतान को। सुयश समर में है पाना बीर बहादुर आन की। तुम सहस्रो के लिये मैं अकेला काल हूँ। हो जमी की बोझ तुम तो मैं बना भूचाल हू।

१ सिपाही—दीवाने! यह हरिण का शिकार नही, शेरो का सामना है।

अजय०—कापुरुषो! मरे हुए को मारना क्या यही है शेरो की दिलेरी? निहत्थों पर वार करना यही है तुम्हारी बहादुरी?

२ सिपाही—जा जा, ज्यादा गाल न बजा। हमारी जवांमर्दी सारे राजपूताने मे मशहूर है। हम कसे हैं, हमारी ताकत क्या है, यह मेवाड़ के दिल मे नासूर है।

अजय०—नराधमो! अपने दग़ाबाजियो की झूठी तारीफें करते हुए जरा शर्माओ। अपने काले कारनामों को कहते हुए अपनी

क़ौम को न लजाओ। हमारे भाइयों को दग़ा से मिलाकर उन्हीं की बदौलत तुमने ताज पहिना है। न्याय और युद्ध से नहीं, मक्रो फरेब से हमारा राज्य छीना है।

३ सिपा०—रहने दे, रहने दे। टूटी हुई नौका पर बैठ करके तूफान से मुकाबिला करने की हिम्मत न कर।

अजय०—वहशियों ! यह टूटी हुई नौका नहीं, विशाल पर्वत है, जो तुम्हारे ऊपर गिरते ही तुम्हें पीस डालेगा।

१ सिपाही—बस, बस, ज़बान को लगाम दे। अगर मरना नहीं चाहता तो अपनी जान लेकर भाग जा।

अजय०—यह तुम बुज़दिलों का काम है। हम योद्धाओं के प्राण हमेशा तलवार की नोक पर रहते हैं। हम लोग मोह, भय, को नहीं, शत्रुओं की शीश पर नज़र रखते हैं। सच्चे हैं जो देश उपासक सच्ची उनमे धुन है। देश धर्म के हित मरजाना उनका सच्चा गुण है। हिन्दू हैं हम हिन्दी भाषी, हिन्द हमारी मात है। तुम कपूतों के लिये यह हाथ वज्राघात है।

१ सिपाही—यह लफ्फ़ाजी ?

अजय०—तुम्हारे कानों का परदा हिलाने के लिये।

२ सिपाही—ऐसी ज़बाँदराजी ?

अजय०—तुम्हारे अत्याचारों को मिटाने के लिये।

सेनापति—(आकर) दिलेरों ! क्या देखते हो। इस चहकते हुए चिड़िया की ज़बाँ तराश लो। इस टिमटिमाते हुए चिराग़ को अपने एक ही फूंक से बुझा दो।

अजय०—आ आ, ओ शैतान के जामे मे हैवान ! आ। यह सिंह का बच्चा, तेरे ही लिये खड़ा है। तुझ गीदड़ के लिये अपने नाखून और दांत निकाले हुये है।

सेनापति—मूर्ख! तुझ टूटे हुये दरख्त के लिये मेरी तलवार का एक ही वार काफी है। चल तैयार हो जा।

अजय०—ले वार सम्भाल।

(दोनों का लड़ना)

सेनापति—दिलेरों! क्या देखते हो, चारो ओर से घेर लो।

(चारो ओर से मुगल सिपाहियो का घेर कर लड़ना,

कल्याणी का घबराना)

कल्याणी—(स्वगत) हा ईश्वर ! अब क्या होगा ?

अजय०—(लड़ते लड़ते) कल्याणी ! अब रक्षा ईश्वर के हाथ है। तू यहाँ से भाग जा।

कल्याणी—भाग जाऊँ ? एक क्षत्राणी होकर अपने भाई को शत्रुओं के हाथ मे छोड़कर भाग जाऊँ ? नहीं भाई नहीं। जहाँ तुम्हारा रक्त गिरेगा वहीं हमारी लाश होगी। राजपूत की है यह बेटी, रण में तुम्हारे साथ रहेगी। प्राणो की चिन्ता नहीं, चिन्ता देश के गाढ़ की। मरते मरते भी कहूँगी जय होवे मेवाड़ की।

(कल्याणी का एक मरे हुए सिपाही का तलवार निकाल लेना,

उधर अजय का मरना)

अजय०—आह ! मेवा...ड़...।

सेनापति—सो गया, बलबलाता हुआ हैवान सो गया।

कल्याणी—(तलवार लिये हुये सामने आकर) ठहरो कायरों! एक पर चार चार मिलकर वार करके अपनी शान न दिखाओ। अगर मुंह पर मूछें रखते हो तो मेरे सामने आओ।

सेनापति—बस खामोश, अपनी जबान घर की चहारदीवारी के लिये बंद रख।

कल्याणी—ओ लहू के प्यासे हिंसक! गो मैं निर्बल हूँ, अबला हूँ, पर तुम शैतानों के लिये आँधी हूँ, बला हूँ। नारकीय, मुझे घर मे रहने वाली नारी न समझ। मैं तुम चाण्डालों के लिये जहरीली छुरी हूँ।

सेना०—जा, जा, यहाँ से अपनी जान सलामत लेकर चली जा। हम तेरे ऊपर हाथ चलाने से मजबूर हैं।

कल्याणी—नर पिशाचो! निराधारो का घर जलाते हुए मजबूर न हुए? गरीब देहातियों को अपने जुल्म की चक्की मे पीसते हुए मजबूर न हुए? अब मुझे मजबूरी का ढोंग दिखाते हो? जिन हाथों को जुल्म और हत्या से काला किया, उन्हें चलाने से शर्माते हो?

सेनापति—पागल! यह हमारे सिपहसालार का हुक्म था।

२ सिपाही—और उन्हीं का दूसरा हुक्म है कि औरतों पर हाथ न चलाया जाय? उन्हें कोई तकलीफ न दी जाय।

कल्याणी—कौन है वह सिपहसालार जिसने घरो मे आग लगाकर पानी के बदले आँसुओ से बुझाने की आज्ञा दी है?

स्त्रियों को विधवा और बच्चों को अनाथ करके रोने की मनाही की है ?

सेना०—वही, जिनकी वहादुरी का कायल खुद वादशाह है। जो शोहरते हिन्द हैं, जिनका नाम महावत खाँ है।

कल्याणी—हे ईश्वर ! यह मैं क्या सुन रही हूँ। गंगा का पवित्र जल और दूषित हो गया ? जो था निर्मल दूध वह पानी हो गया ! सेनापति ! यह क्या कहते हो ?

सेना०—वही जो खारा जल समुद्र से बादलो को मिला है। वही जो हुक्म हमारे सिपहसालार ने हमें दिया है।

कल्याणी—नहीं, नही, नायक ! तुम्हारे सिपहसालार कांच पर हीरे का धोका खा सकते है, चदन को नीम की लकड़ी बतला सकते हैं, पर ऐसे अनर्थकारी आज्ञा को नहीं सुना सकते।

सेना०—औरत ! हम सच कहते हैं।

कल्याणी—चुप रहो। चन्द्रमा मे कलंक दिखा सकते हो, हीरे मे हलाहल बता सकते हो, पर एक गौ समान, दयावान हृदय को निर्दयी नहीं कह सकते।

सेना०—मैं यकीन दिलाता हूँ।

कल्याणी—कभी नहीं। जो सच्चे भक्ति और सच्चे प्रेम का आगार हो, जिसका भूषण अनाथो को आश्रय और कर्तव्य परोपकार हो, वह उपवास और कष्ट से प्राण दे सकता है पर ऐसा अत्याचार नहीं कर सकता।

सेना०—मैं कसम खाता हूँ।

कल्याणी—तो तुम मुझे उनके पास ले चलो।

सेना०—किसके पास ?

कल्याणी—अपने सिपहसालार के पास। जिसकी आड़ मे आज तुम अपनी गुनाहों को छिपाना चाहते हो? जिस पर अपने पापों का इल्जाम लगाते हो?

सेना०—लेकिन तुम एक औरत हो?

कल्याणी—न्याय और सत्य के लिये औरत और मर्द क्या? मैं उनसे पूछूँगी, उत्तर लूंगी, उस चन्द्रमुख को देखूँगी, कि कल जो अपनी सुधा से निराधारो को जीवनदान दे रहा था, आज कैसे अग्नि-ज्वाल बन गया? जो कमल की नाईं कोमल, बसन्त-ऋतु की भाँति उदार था, वह कैसे श्मशान भूमि हो गया।

सेना०—मुझे औरतों को वहाँ ले जाने का हुक्म नहीं है।

कल्याणी—हुक्म नहीं है? मारने का हुक्म है, जिलाने का हुक्म नहीं है? दंड देने का हुक्म है, क्षमा करने का हुक्म नहीं है। घर जलाने का हुक्म है, बुझाने का हुक्म नहीं है? ओ झूठ के परदे में छिपे हुए नौकर शाहियो! यह कभी नही हो सकता। अगर तुम टोप लगाकर, कमर में तलवार बाँध कर, निरपराधों को दंडित कर सकते हो, तो उन पर दया भी दिखा सकते हो। अगर आहतो को अपनी क्रोध की चक्की में पीस सकते हो, तो अपने कानों से उनकी फरियाद भी सुन सकते हो।

सेना०—औरत तेरी तकरीर और जिद......

कल्याणी—हाँ, यही वह जिद है जिसने तुमसे इन्सानियत
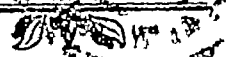
छीन ली है। नायक ! यदि अपने प्रधानों के पास फरियाद करने का नाम जिद्द है, न्यायाधीश से न्याय की दोहाई देना जिद्द है, तो मैं यही कहूँगी कि तुम मनुष्य नहीं राक्षस हो।

सेना०—लेकिन मैं एक नौकर.........।

कल्याणी—हाँ तुम नौकर हो, किंतु जब अपने पेट की पूजा के लिये अन्याय का हुक्म बजा सकते हो, तो दुखियो की रक्षा के लिये दया की आज्ञा भी पालन कर सकते हो।

१ सिपाही—नायक जी ! अगर यह औरत खुद चलना चाहती है, तो चलने दीजिये।

सेना०—औरत ! मै तेरी तकरीर से हार गया। अच्छा चलो। सिपाहियो इस लाश को उठा लो।

कल्याणी—भ्राता ! भ्राता !! तुम मुझे छोड़कर चले गये, अब मैं कहाँ जाऊँ ? किसे अपना काला मुहँ दिखाऊँ ? नहीं नहीं, तुमने वीर कर्तव्य पालन किया है, असहायों की रक्षा मे प्राण दिये हैं, तुम्हारी मृत्यु को धन्य है। मैं अभागिनी प्राण दे दूँगी, अपने शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दूंगी, पर तुम्हारी तपस्या और सत्य-व्रत का पालन करूँगी। (सिपाहियो के पीछे पीछे जाना)

महावतखाँ का शिविर।

(महावत खाँ अकेले टहल रहे हैं)

महावत खाँ०—मेवाड़ ! सुन्दर मेवाड़ !! क्षमा करना। आज एक जाति के साथ दूसरी जाति का नहीं, एक मज़हब के साथ दूसरे मज़हब का मुक़ाबिला है। तुम्हारे वस्त्र फटे है, तुम्हारा शरीर धूसरित है, किन्तु इस भेष का बनाने वाला म नहीं, तुम्हारा हिन्दू-धर्म है। आज हिन्दू-धर्म के अहंकार ने तुम्हारे साभाग्य सूर्य को काले बादलों ने ढँक लिया। अपने क्रोध और निष्ठुरता से तुम्हारे स्वच्छ महिमा को काला कर दिया।

गजसिंह—(आकर) खाँ साहब ! आदाब।

महावत खाँ—तस्लीम, कहिये क्या खबर है ?

गजसिंह—मैं आपको बधाई देता हूँ कि कल के युद्ध का विजय मुकुट आपके सर रहा।

महावत खाँ—नहीं राजा साहब ! हिन्दू, हिन्दू का मुकुट खूब लूटना जानते हैं।

गजसिंह—लेकिन इस हिमाकत को तो देखिये, राणा पाँच हज़ार फौज के साथ हमारी एक लाख फौज से लड़ने आये थे।

महावत खाँ—गजसिंह ! यह हिमाकत नहीं, हिम्मत है। यही वह वीरता और साहस है, जिसका कि मुझे भी फख़्र है।

गजसिंह—आपको फख्र ?

महावत खां—आश्चर्य से क्यो देखते हो ?

गजसिंह—इसलिये कि आप मुसलमान हैं और... ..

महावत खां—यही तो फख्र का बायस है, कि मैं मुसलमान होने पर भी उसी राजपूत क़ौम का हूँ, उसी राणा का भाई हूँ जो पाँच हज़ार वीरो के साथ हमारी एकलाख फौज से लड़ने आया था।

गजसिंह—किंतु लौटे तो अकेले ही।

महावत खाँ—वह सच्ची जाँ निसारी थी। असाधारण देश भक्ति थी। जानते हो, जो उद्योग को अपना कर्तव्य और देश-सेवा को अपना लक्ष्य बनाते हैं, वह प्राण का भय नही करते।

गजसिंह—बेशक !

महावतखाँ—और वह साहस तथा निर्भयता राजपूतों में है।

गजसिंह—बेशाक, बेशाक।

महावत खां—और उन्हीं राजपूतों को शर्मिन्दा करने वाले, अपनी कौम की गर्दन पर छुरी फेरने वाले एक राजपूत तुम हो।

गजसिंह—खां साहब ! यदि आप में जाति का ऐसा पक्षपात था, राजपूतों के प्रति ऐसा विश्वास था, तो आपको मुसलमान न होना चाहिये था।

महावत खां—बेशाक। लेकिन मेरे लिये आँसू पोंछने की इतनी जगह है, कि मै इस समय राजपूत नहीं हूँ। किन्तु तुम तो इतना गिर गये, कि राजपूत रहते हुए भी अपनी कौम के हत्यारा बने।

गजसिंह—वह शत्रुता के कारण।

महावत खां—ठीक है। जाति का शत्रु जाति को होना ही चाहिये। जब पुराने ज़माने मे हिन्दुओ ने हिन्दुओं से शत्रुता करके, अपने भाइयों पर ज़ुल्म करके आनन्द उठाया है तो तुम कैसे उसे भूल सकते हो। यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि दूसरी कौम की बनिस्बत हिन्दू अपनी क़ौम को मिटाना खूब जानते हैं।

गजसिंह—खाँ साहब! आप मुझपर आक्षेप कर रहे हैं?

महावत खां—राजा साहब! न्याय के परदे में ढाक रखने पर भी वह शत्रु, मित्र, सभी के ज़वान से वाहर हो सकता है। मैं फिर कहता हूँ, कि मुसलमान राजपूतों के उतने दुश्मन नहीं हैं, जितने कि खुद राजपूत अपने भाइयों के दुश्मन है।

गजसिंह—लेकिन जब आपके दिल में राजपूतो के प्रति इतना आदर था, तो आपको उनसे युद्ध करने न आना था।

महावत खां—गजसिंह! आदर, जाति और धर्म का नहीं, साहस और कर्तव्य का होता है। कोयल काला होने से नहीं, अपने गुण से प्रशंसनीय होता है।

गजसिंह—फिर तो ऐसे श्रेष्ठ और प्रशंसनीय धर्म को छोड़-कर आपने राजपूतो का अनिष्ट किया?

महावत खां—लेकिन इस अनिष्ट के अपराध को, कि मैं मुसलमान क्यों हुआ, शायद ईश्वर क्षमाकर दे। पर तुम्हारा महान अपराध तो अक्षम्य है।

गजसिंह—क्यों?
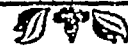
महावत खां—क्योंकि मैंने केवल अपना नाश किया और तुमने अपने हाथों से अपनी समस्त जाति और कुल दोनों का सर्वनाश किया। मेरा अपराध केवल अपने लिये है और तुम्हारा अपराध देश भर के लिये है।

गजसिंह—बस कीजिये, मालूम हुआ कि इसी वजह से आपने राणा को क़ैद नहीं किया।

महावत खां—अदूरदर्शी! दुनिया का हरेक क़ैदी अन्याय जुल्म और कायरता का दास रहता है। वह क़ैदी नहीं आजाद है जो देश के लिये मरना, जीना समझता है। फिर ऐसे दुश्मन को जो दुनिया मे फख्र की चीज हो, मैं कैद करके उस फख्र को तोड़ना नहीं चाहता।

गजसिंह—जब तो आपको यह युद्ध भी नहीं जीतना था।

महावत खां—वास्तव मे यह युद्ध मैंने नहीं, उन्होंने जीता है, जो जंगे मैदान में छाती ताने पड़े हैं। विजय उन्होंने प्राप्त की है जिन्होंने अपने प्राण निछावर कर दिये हैं।

गजसिंह—और हम लोग?

महावत खां—केवल कायरता का डंका बजाने वाले हैं। पराजय का निशान उडाने वाले हैं। गजसिंह! वीरों का मान रूप से नहीं, गुण से होता है, और वह गुण है सत्य का तेज, आत्मोत्सर्ग, बलिदान।

गजसिंह—बस कीजिये खाँ साहब! आपके साथ यहाँ आकर मुझे बहुत रंज हुआ।

महावत खां —और यह काम तुम्हारे हाथ सपुर्द करके मुझे अज़हद खुशी हुई।

गजसिंह—अच्छा मैं इजाजत चाहता हूँ।

महावत खां—हाँ हाँ तशरीफ ले जा सकते हो। (गजसिंह का जाना)ओ हिन्दू! राजपूत जाति के द्रोही! शर्म के पानी में डूबने के बदले तू मुझे अपनी शान दिखाता है? दासत्व के लिये देश की दुर्दशा करके अपना बड़प्पन जताता है? नीच, स्वर्ग और नरक एक नहीं हो सकते। राक्षस और देवता गले गले नहीं मिल सकते।

(चार सिपाहियों का कल्याणी को लेकर आना)

सेना०—ख़ादिम आदाब बजा लाता है।

महावत खां—यह कौन?

सेना०—खुदावन्द! यह रास्ते में लड़ने वाले, एक दुश्मन की साथिन है।

महावत खां—फिर यहाँ लाने की वजह?

सेना०—जबरदस्ती हम लोगो के साथ यहाँ तक आई है।

महावत खां—औरत! तुम कौन हो?

कल्याणी—न्याय की पुजारिन्। अन्याय की शिकार।

महावत खां—क्या चाहती हो?

कल्याणी—वही जिसको ईश्वर ने मनुष्यों के लिये 'न्याय' के नाम से संसार में बनाया है। जिसके बल पर पृथ्वी ठहरी है, आकाश खड़ा है।

महावत खां—किस बात का न्याय?

कल्याणी—एक निर्दोष प्राणी का । एक निरपराध का हत्या का ।

महावत खां—हत्या ? किसने हत्या की ?

कल्याणी—इन हत्यारों ने ।

महावत खां—मेरे सिपाही और हत्यारे ?

कल्याणी—हाँ, इन्होंने मेरे निर्दोष भाई की हत्या की है । मुझ अंधी की लाठी छीन ली है ।

महावत खां—नायक ! यह मैं क्या सुन रहा हूँ ।

सेना०—खुदावन्द ! हम लोग गाँव जालते हुए, बिद्रोहियो को मारते हुए चले आरहे थे, कि इस औरत के भाई ने हमारे काम में बाधा पहुँचाई । दोनों ओर से लड़ाई हुई और वह जग-मैदान मे मारा गया ।

महावत खाँ—क्यों, क्या यह बातें ठीक हैं ?

कल्याणी—हाँ, उतनाही ठीक है जितना कि इन हत्यारों का उन गरीबों की हत्या करना । झोपड़ियों मे रहने वाले निरपराधो को जुल्म की चक्की में पीसना ।

महावत खां—जब तो तुम्हारा भाई लड़ाई में मारा गया ?

कल्याणी—परन्तु उनकी हत्या करने वाले यही हत्यारे हैं । इन्होंने ही मेरे भाई को मार डाला ।

महावत खां—हाँ मारा, लेकिन जग-मैदान मे । हत्या की, परन्तु मेरी आज्ञा से । इनका कोई अपराध नहीं है । सिपाहियो तुम लोग जाओ ।

(सिपाहियों का जाना)

कल्याणी—तो निरपराधों की हत्या आपने कराई ?

महावत खां—हाँ।

कल्याणी—गाँव जलाने की आज्ञा आपने दी थी ?

महावत खां—हाँ।

कल्याणी—नहीं, नहीं, आप मेरे विश्वास और आँख को धोखा न दीजिये। जो सत्य और नीति का ज्ञाता हो, जिसका मन पवित्रता का सरोवर हो, जिसका विचार निर्मल आकाश हो, वह निष्ठुरता का दास नही हो सकता।

महावत खां—देवि ! मेरे सम्बन्ध मे ऐसी उच्चधारणा क्यों ?

कल्याणी—राजहंस प्यास से पीड़ित होकर क्षीर के बदले नीर नहीं पीता। चन्दन का वृक्ष जलकर भी अपनी सुगन्धि नहीं छाड़ता।

महावत खां—इसका अर्थ ?

कल्याणी—अर्थ यही, कि मेरे हृदय के सिंहासन पर विराजमान देवता के मनमे, ऐसा अपवित्र भाव नहीं आ सकता।

महावत खां—तुम्हारे हृदय के देवता ?

कल्याणी—हाँ छुरी निकालिये और इस छाती को चीर कर देखिये। उसमें सूर्य की भांति तेजमान, चन्द्र की भांति शोभायमान, और प्रकृति की भांति उदार एक मुर्ति विराजमान है। और वह मूर्ति आपकी है।

महावत खां—तुम कौन ! तुम कौन ?

कल्याणी—मेरे स्वामी ! मेरे नाथ ! यह वही अभागिन है
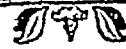
जिसके मुख पर पतिव्रता का तेज है, किन्तु पति आदर की लाली नहीं। यह वही आपकी कल्याणी है जिसके हृदय में पति-भक्ति का दीपक जल रहा है, पर पति-कृपा की उँजियाली नहीं ?

महावत खाँ—कल्याणी ! कल्याणी !! तुम और यहाँ ?

कल्याणी—नाथ ! विश्वास रो रहा है। प्रेम आँसू बहा रहा है।

महावत खां—बस बस कल्याणी ! मुझे अधिक लज्जित न करो।

कल्याणी—प्रभो ! द्वेष की मायामूर्ति ने आपको कैसे ठग लिया ? निर्दयता कैसे आपकी सहचरी बन गई ?

महावत खां—हा ईश्वर ! आज यह कैसा अनर्थ ? मेरे कारण एक अबला का सर्वनाश ?

कल्याणी—स्वामी ! प्रभो ! मैंने जिस दिन आपका ध्यान करके, आपके प्रेम को अपने जीवन का ध्रुवतारा बना कर, अपनी क्षुद्र नाव को संसार समुद्र में छोड़ा था, उस दिन, उस दुःख में रक्षा करने वाला यही भाई था। मार्ग के कष्टों को सर पर उठाती हुई, आपकी चरण-धूलि पाने के लिये, भाई के सहारे मैं मंजिल को तय कर रही थी, कि आपने मेरी नाव की पतवार को तोड़ डाला। प्रभो ! मैं क्यों बची रहूँ, मुझे भी उन्हीं हाथों से, उसी आज्ञा से वध कर दीजिये।

महावत खां—कल्याणी ! मुझे क्षमा करो।

कल्याणी—आह ! जिसका ध्यान करके मैं सन्यासिनी हुई, जिसकी पूजा और सेवा के लिये गली की भिखारिन बनी; वह

देवता, ऐसा निर्दय हो गया? ईश्वर! ईश्वर!! क्या मेरे लिये मृत्यु नहीं है?

महावत खाँ—कल्याणी! यद्यपि यह हत्या मेरी आज्ञा से हुई, किन्तु इसका दोषी तुम्हारा हिन्दू-धर्म है।

कल्याणी—हिन्दू-धर्म?

महावत खाँ—हाँ हिन्दू-धर्म, उसका दोष, उसकी घृणा।

कल्याणी—क्या कहा नाथ! क्या कहा?

महावत खाँ—देवि! जानती हो, हिन्दूधर्म, मुसलिम-धर्म्म का शत्रु है और शत्रु पर दया करना राजनीति के विरुद्ध है। जब हिन्दुओं ने विधर्मिओ के बीच, द्वेष और घृणा की दीवार खड़ी कर दी, तो दोनों में से एक का अनिष्ट होना सम्भव है।

कल्याणी—नहीं, नहीं, जिस मुख में दया और क्षमा के शब्द शोभित हैं, उसे कलुषित न करिये। एक विधर्मी, दूसरे धर्मको खण्डित कर सकता है, एक विदेशी दूसरे देश को लूट सकता है, पर स्वदेश का एक विशुद्ध रक्त, ऐसा पाप नहीं कर सकता।

महावत खां—पर मैं भी तो विधर्मी हूं।

कल्याणी—स्वामी! धर्म बदलने से मनका उच्च भाव नहीं बदल सकता। परदेश जाने से, देश के प्रति मोह घटता नहीं और बढ़ता है। मुग़ल भले ही इस बात की शिक्षा दें, कि उनका धर्म, हम काफिरो का वध करे, पर आप तो मेवाड़ की संतान हैं, आपकी नसो में राजपूत-रक्त है, आप कैसे लोभ के पक में फँस गये? आप कैसे द्वेष के नरकागार मे गिर गये?

महावत खाँ—इसका भी कारण है।

कल्याणी—नाथ! दूसरे के जूठन पर अपने गाँव वालों को नग्कुत्तों से नुचवाना कारण है? निर्दोष मनुष्यों की हत्याकर मेवाड़ को श्मशान बनाना कारण है? आह! स्वामी, आपका हृदय इतना पतित हो गया, कि आप मुगलों से भी बढ़ गये? वे केवल मेवाड़ जीतना चाहते थे और आप गरीबों के घर भी जलाने लग गये? उनका जुल्म राज्य की लिप्सा थी और आप जाति, देश, दोनों के द्रोही बन गये?

महावत खां—लेकिन तुम जानती हो क्यों?

कल्याणी—बस, बस, स्वामी! मेरा मोह आज भंग हो गया। मैं एक ही दिन, एक ही साथ, स्वामी और भाई दोनों को खो बैठी।

महावत खां—देवि! मैं फिर कहता हूँ कि इसका कारण केवल तुम हो।

कल्याणी—झूठ है। पाप से बचने की युक्ति है। आकाश तुम पर क्यों छाया किये है। पृथ्वी क्यों तुम्हारा बोझ सहन कर रही है?

महावत खां—कल्याणी! मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ......

कल्याणी—क्या?

महावत खां—यही, कि जिस समय मैंने सुना कि तुम्हारे पिता ने मुसलिम धर्म के कारण तुम्हे घर से निकाले का दंड दिया, उसी दिन से मैंने मेवाड़ के विरुद्ध शस्त्र धारण किया।

कल्याणी—यदि यह सच भी है तो मैं पूछती हूँ, एक के अप-

राध पर जाति का नाश करना कहाँ का न्याय है ? एक दीवार मे नोना लग जाने पर सारे मकान को गिरा देना कहाँ का सिद्धान्त है ?

महावत खां—देवि ! रावण के पाप से सारी लका ध्वंस हो गई थी। भाई की अवहेलना से ही विद्रोह की आग फैली थी। फिर भी यह विद्वेष मेरेही प्रति नहीं, सारे मुसलमानो के प्रति है।

कल्याणी—किन्तु आप तो हिन्दुओ का यह विद्वेष जानकर मुसलमान हुये थे। आप इसका प्रतिकार कैसे कर सकते हैं ? इसका बदला लेना चाहे तो मुग़ल ले सकते हैं। स्वामी ! अन्याय के झूठे प्रतिकार को सत्य मानकर अपने मनको प्रबोध न दीजिये। अपने अहम्मति पाप से मुसलिम धर्म को कलकित न कीजिये।

महावत खां—तो क्या मैंने धोखा खाया ? द्वेष की ताप मे धर्म-नीति को भूल गया ?

कल्याणी—प्रभो ! धर्म सभी पाप रहित होते हैं। पर धर्म की आड़ मे अन्याय, पाप का रूप होता है। धर्म की रक्षा द्वेष से नहीं परोपकार और सत्य से होती है। इस धर्म में विद्वेप में, सिवा हिसा के कौन सा गुण है, जो आपको दिखाई देता और जगत को नहीं दिखाई देता है ? देखिये, आपकी तलवार में बिद्वेष की चमक है पर न्याय की धार कहाँ है ? आपके बाहुओं मे अहम्मति का जोश है पर सत्य का बल कहाँ है ? आपके चारो ओर हत्या की दुर्गन्धि है पर पवित्रता की सुगन्धि कहाँ है ? आपके हृदय पर पाप की पीड़ा है पर विजय का हर्ष कहाँ है ?

महावत खां—आह ! जिस हृदय मे थोड़ी देर पहले जोश
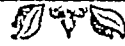
था, गर्व था, विजय था, हर्ष था, अब वहाँ सिवा घृणा और शर्म के कुछ नहीं दिखाई दे रहा है।

कल्याणी—कहिये, क्या यही आपका मनुष्यत्व है, यही आप का धर्म है, यही आपकी शूरता है ?

महावत खां—सच है देवि ? विद्वेष का पुजारी, आज के प्रतिकार का सुख देखता है, लेकिन कल का दुष्परिणाम नहीं सोचता। मैंने द्वेष से पागल होकर यह नहीं विचारा, कि मैं अन्याय के पथ पर न्याय का खून कर रहा हूँ। क्रोध के वशीभूत हो मनुष्यत्व को भूल रहा हूँ।

कल्याणी—आह नाथ ! तुमने मेरे स्वर्ण-महल को पैरो से ठुकरा कर मिट्टी में मिला दिया। दाम्पति कर्तव्य को पाप-सागर मे डुबा दिया। नारी कुल का वह महत्व कि "पति से पत्नी को कौन छुड़ा सकता है ?" आज धूम्र की भाति ससार से उड़ गया ? हमारे तुम्हारे बीच एक प्रलय का सागर उमड़ आया। देखो, देखो, अपने कुकर्मों को, अपने पिशाच वृत्ति को नजर उठा कर देखो ! स्वदेश मे रक्त की नदी बह रही है। मेरे भाई का मृत शरीर उसमे तैर रहा है।

सीनपरिवर्तन
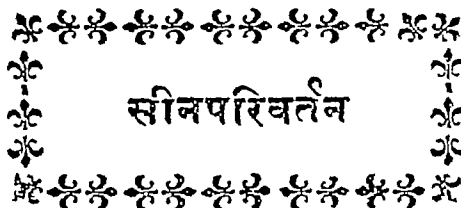
(खून की नदी बह रही है-अजय की लाश उसमे तैर रही है)

महावत खां—यह क्या ? यह क्या ? ओ नीच महावत ! देश-द्रोही महावत ! अपने देश की तूने यह क्या दशा की ? ओ लहू के प्यासे ! हत्यारे ! तू मुट्ठी भर जूठन के लिये अपने ग़रीब भाइयों का हिंसक बना ! देवि ! क्षमा ! क्षमा !!

(मुख ढाप कर महाबत का गिर पड़ना । कल्याणी का कम्पित होना)

अङ्क २ दृश्य १

नदी का किनारा।

(अजय की लाश पड़ी है-केशवसिंह इत्यादि कई मनुष्य खड़े हैं। गोविन्दसिंह का प्रवेश)

गोविन्द०—कहाँ है, कहाँ है, मेरा हृदय रत्न, मेरे मास्तिष्क का सुख, मेरा बाहुबल कहाँ है? आह पुत्र! मैंने तेरे पवित्र हृदय को क्रोध से कुचल दिया। तुझ मणि को काँच समझ कर फेंक दिया। बेटा! बेटा! तू मेरे कुकर्मों से रूठ गया? मुझसे नाराज़ हो गया? नही, नहीं, मैं तुझसे क्षमा मागूँगा। अपने अपराध का प्रायश्चित करूँगा।

केशव०—गोविन्द सिंह जी! धैर्य्य धारण करिये।

गोविन्द०—आह! हृदय जल रहा हो और मैं धैर्य्य रखूँ। घर उजड़ गया हो और धैर्य रखूँ? मेरी आँखो के सामने होवे यह दारुण संताप। लाश तरुण बेटे की किन आँखों से देखे बाप।

केशव०—किन्तु अजय ने वीरो का कर्तव्य पालन किया है। माता के दूध की लाज रखी है।

गोविन्द०—आह! आज मैंने उसे अनर्थ की लाठी से मार कर गिरा दिया। अपनेही दीपक से अपने घर को जला दिया। मै अधम हूँ, नरपिशाच हूँ, अपने पुत्र का घातक हूँ।

केशव०—नहीं, नहीं, आप धन्य हैं जो आपने ऐसे वीर पुत्र को उत्पन्न किया। अजय ने दीनों की रक्षा मे प्राण देकर आपके नाम को उज्ज्वल कर दिया।

गोबिन्द०—देखो, देखो, मेरे हृदय के भीतर एक आँधी चल रही है। मेरे चारो ओर दावानल का उल्कापात हो रहा है। मेरे बेटे! मेरे लाल!

केशव०—देखिये, शोक से पागल न होइये। चलिये इस मृत शरीर का दाह कर्म कीजिये।

गोबिन्द०—क्या कहा, दाह कर्म? धिकार है, धिक्कार है, मेरे इस जीवन को, मेरे दुष्कर्म को धिक्कार है। आकाश! मुझ पर फट पड़। पृथ्वी! मुझे निगल ले। नहीं, मैं अपने बेटे को जगाऊँगा, उसे गले लगाऊँगा। मेरे पुत्र.........

केशव०—हैं, यह आप क्या करते है? क्या मरा हुआ पुन लौट सकता है?

गोबिन्द०—नहीं भाई, मुझे जगाने दो। रूठे हुए पुत्र को मनाने दो।

केशव०—देखिये, शोक मे उन्मत्त न होइये।

गोबिन्द०—आह! वह कुसुम था, मैंने काँटा समझा। वह अमृत था, मैंने उसे विष कहा? उसने विनती की, मैंने धिकार दिया। उसने आँसू बहाया; मैंने घर से निकाल दिया।

केशव०—गोविन्दसिंह जी! धन्य वही जीवन है जो देश के काम आये। सुफल वही वैभव है, जो परोपकार में लग जाये।
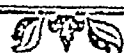
गोविन्द०—आह ! ईश्वर ! आज तुमने मुझ वृद्ध की कमर तोड़ दी। मुझ अंधे की लाठी छीन ली। देश, ओ मेवाड़ देश ! इतने प्राणों को लेकर भी तेरा पेट न भरा ? रक्त में स्नान करके भी तेरी प्यास न बुझी ? राक्षस ! तूने मेरे सुन्दर संसार को, मेरे हरे भरे बाग़ को उजाड़ डाला। मेरे वर्तमान और भविष्य दोनों को चूर चूर कर डाला।

केशव०—गोविन्द सिंह जी ! यह मेवाड़ का नहीं आपके नातेदारों का अपराध है। इस हत्या का भागी विजाति नहीं, खुद आपका दामाद है।

गोविन्द०—क्या महावत खाँ ?

केशव०—हाँ, उसी राक्षस ने अपने जहरीले मुख से गाँव जलाने का हुक्म सुनाया। उसी की अनीति से यह पैशाचिककाण्ड हुआ।

गोविन्द०—आह महावत ! महावत !! तूने कुल का ही नहीं, देश का, धर्म का, संतान का, एक साथ नाश कर दिया। क्रूर, विधर्मी, तू राक्षसों से भी अधम नारकी बन गया ? चांडाल, तुझे मर कर नरक में भी स्थान न मिलेगा। इस बूढ़े का, देश का, ईश्वर का श्राप तुझपर वज्र बन कर...

कल्याणी—(आकर) उन पर नहीं मुझ पर गिरेगा।

गोविन्द०—कौन कल्याणी ?

कल्याणी—हाँ वही कल्याणी ! पिता जी, मेरे लिये नहीं, जाति के लिये नहीं, देश के लिये नहीं, धर्म के लिये नहीं. ईश्वर के लिये उन्हें श्राप न दीजिय।

गोविन्द०—दूर हो, मेरे कोख को लजाने वाली, मेरे पुत्र की हत्यारिन ! दूर हो। कुल की शत्रु है तू मान की शत्रु। जाति की शत्रु है तू प्राण की शत्रु।

कल्याणी—हाँ, मैं शत्रु हूँ, डाइन हूँ। मुझे मार डालिये, मेरे शरीर को टुकड़े टुकड़े कर डालिये। नारी नहीं पिशाचिन हूँ, तात की हत्यारिन हूँ। जाति की और धर्म की—मैं देश की बैरिन हूँ।

गोविन्द०—सर्वनाशिनी ! देख, अपनी करतूत का देख। तेरेही कारण आज धूम्रकेतु का नाशकारी प्रभाव उदय हुआ। तेरेही कृत्य से मेरे देश धर्म और पुत्र का क्षय हुआ।

कल्याणी—सचमुच मैं अकल्याण की शिखा हूँ। मेवाड़ के लिये धूम्रकेतु हूँ।

गोविन्द०—पिशाचिनी ! सींचा था जिसे रक्त से उस फूल को तोड़ा। तूने अपने दुष्कर्म से धर्म-सूत्र को तोड़ा।

कल्याणी—हाँ मैं नारी रूप में राक्षसी हुई। मेरा संहार कर दीजिये। मेरे दु:चिन्ह को इस ससार से मिटा दीजिये।

(चरणों पर गिरती है)

गोविन्द०—आह ! यह कैसी नरक की दाह ? कसा पैशाचिक नृत्य ? हृदय ! तू चूर चूर हो जा।

(अपने बालों को नोचता है)

केशव०—गोविन्द सिंह जी ! ऐसे विह्वल न होइये। धर्मवीर होकर धीरता को न खोइये।

गोविन्द०—ठीक है। यह मेरीही भूल का फल है। मेरेही पापों

का दंड है। मैंने एक सती साध्वी का अपमान किया था। उठ उठ, ऐ घर से निकाली हुई, पति द्वारा त्यागी हुई, मातृहीन कन्या! उठ।

(कल्याणी को उठाना-मानसी का विलाप करते हुये आना)

मानसी—हा ईश्वर! मैं लुट गई फूटा मेरा भाग। प्रेमनगर मे लग गई कोप की तेरे आग।

गोविन्द०—हैं, यह कौन? यह कौन?

मानसी—कहाँ हैं, कहाँ हैं, मेरे जीवन सर्वस्व, मेरे स्वामी कहाँ हैं? आह नाथ! मुझे अकेली छोड़कर तुम कहाँ चले। देखो देखो स्वामी! आज मैं दयामयी नहीं, तुम्हारे प्रेम की भिखारिन हूँ।

केशव०—राजकुमारी! यह तुम्हारा कैसा भेष?

मानसी—यही वह भेष है जो चिता में भी पति के साथ जाता है। यही वह रूप है जो जल कर भी अपने पति को अपनाता है।

केशव०—तुम्हारे पति?

मानसी—हाँ, मेरे पति, मेरे स्वामी, मेरे सर्वस्व? इन्हीं के साथ आत्मा आत्मा में व्याह हुआ था। भूषण है सुहागिन को, विधवा को संन्यास है। मेरे जीवन-स्रोत मे यही अपने इतिहास हैं।

केशव०—राजकुमारी! देश के सच्चे सेवक देश पर बलिदान होना अपना कर्म समझते है। वे पत्नी का विलाप, पिता का संताप नहीं, अपने धर्म को देखते है।

मानसी—हा नाथ! तुम्हारे गौरव की किरण परलोक को व्याप्त करके इस पृथ्वी पर आलगी है। तुमने देश और धर्म की रक्षा मे अमर-पद-प्राप्त की है।

केशव०—राजकुमारी ! यही जीवन का सच्चा उत्सर्ग है।

मानसी—धन्य है उस पिता को जिसने ऐसा पुत्र पाया।
धन्य है उस पत्नी को जिसने ऐसा पति पाया॥
धन्य है उस बहिन को जिसका ऐसा सहोदर भाई हो।
धन्य है उस भूमि को जिसने ऐसी संतान पाई हो॥

कल्याणी—हा ईश्वर ! यह सब क्या हो रहा है ? यह स्वर्ग है या नर्क ? ये देवता हैं या मनुष्य ? नहीं, नहीं, मुझे छोड़ दो। यह जीवन, मृत्यु से भी भयानक है। यह संसार नर्क का अभिचारक है।

(गोविन्द सिंह से हाथ छुड़ाकर भाग जाना)

गोविन्द०—कल्याणी, कल्याणी ? आह ! पुत्र भी गया, मेवाड़ भी गया। कन्या भी गई, अब मैं भी जाऊँगा। डूब जा ! डूब जा !! ऐ संसार ! आज प्रलय सागर मे डूब जा। यह भी डूबा, वह भी डूबी, तुम भी डूब, मै भी डूबता हूँ।

(नदी मे कूदना चाहता है—सब लोग चारो ओर से पकड़लेते हैं)
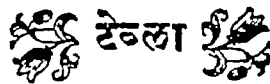
महावत खाँ का खेमा ।

(महावत खाँ का घबराये हुए प्रवेश)

महावत खाँ—

चली न आँधी गिरी न बिजली कैसा भीषण दाह था ।
मरघट था या लय नद था, वह कैसा रक्त-प्रवाह था ॥

आह ! आज मेरे जीवन का उत्साह, साहस, सब समाप्त हो गया । यह भूलोक मेरे लिये यमलोक बन गया । न सूर्य रहा न उसकी धूप छांह है । केवल मत्सर हृदय और उसकी दाह है ।

१ सिपाही—(आकर) खादिम अदाव बजा लाता है ।

महावत०—क्या खबर है ?

१ सिपाही—शाहज़ादा साहब मय फौज के आ गये ।

महावत०—फौज के साथ आगये ?

१ सिपाही—जी हाँ ।

महावत०—अच्छा जाओ । (सिपाही का जाना) चलो अच्छा हुआ । अब मैं अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा कर सकूँगा । मुग़ल शाहज़ादे ! तुम्हारा आना उदयपुर के किले पर क़ब्ज़ा करने के लिये हुआ और मेरा यहाँ रहना अपने कुकर्मों का प्रायश्चित करने के लिये होगा ।

(गोविन्द सिंह का क्रोधावेश में प्रवेश)

गोविन्द०—यही है, यही है, मेरे जीवन का कलंक, मेरा घर फूंकने वाला दीपक, मेरे संसार का शत्रु यही है।

महावत०—(आश्चर्य से) हैं, तुम कौन?

गोविन्द०—मृत्यु का आहार, तुम्हारे कुकर्मों का चित्र, मेवाड़ का एक खंडहर।

महावत०—पहचाना! आपका नाम गोविन्द सिंह है।

गोविन्द०—वह किसी समय था। अब मेरा नाम मरघट का यात्री, चिता की लकड़ी और स्मशान की राख है। और तेरा नाम........।

महावत०—क्या हमारा नाम?

गोविन्द०—हाँ, तेरा नाम पहले महीपति था, फिर महावत खाँ हुआ और अब 'देश का दुर्दिन' है।

महावत०—देश का दुर्दिन?

गोविन्द०—हाँ, हाँ, यही वह आँखें हैं जो कभी लज्जा से बराबर नहीं होती थीं। यही वह मस्तक है, जो झुका रहता था। यही वे हाथ हैं, जो जुड़े हुए रहते थे।

महावत०—वह भी समय था।

गोविन्द०—आज उसी समय को मैं भी देखने आया हूं।

महावत०—इसका अर्थ?

गोविन्द०—मुझे आज देखना है कि तेरी तलवार में धार कितनी प्रबल है? तेरा पशुबल कितना सबल है?

महावत०—आप कैसी बहकी हुई बातें कर रहे हैं।

गोविन्द०—उतनी ही, जितना कि तेरा हृदय हिंसात्मक हो गया। महावत ! तलवार निकाल, जिन हाथों से मेरा सर्वनाश किया है, उन्हीं हाथों से मुझे भी मार डाल।

महावत०—नहीं, नहीं, ऐसा न कहिये।

गोविन्द०—कहूँगा और तुमसे अवश्य युद्ध करूँगा। बस मरूँगा, या मार डालूँगा।

महावत०—पर मैं आपसे नहीं लड़ सकता।

गोविन्द०—नहीं तुझे लड़ना होगा। जब धर्म का, जाति का, ध्वंस किया है, तो मुझे भी मारना होगा।

महावत०—वीरवर ! समय के प्रभाव से विद्वेष के कुभाव से जो होना था, वह हो गया।

गोविन्द०—नहीं, अभी बाकी है। राणा प्रताप के भतीजे के हाथ से मेरा मरना बाक़ी है।

महावत०—मुझे अपनी भूल पर शोक है।

गोविन्द०—मुझे हिन्दू-जाति के हाथों मरने में गौरव है।

महावत०—मैं अपने किये पर लज्जित हूँ।

गोविन्द०—जब मेवाड़ देश की संतान होकर दूसरों के गुलाम बने, तब लज्जा न आई? हिन्दू धर्म को तिलाञ्जली देकर मुसलमान बने, तब लज्जा न आई? राजा के भाई होकर राणा से शत्रुता की, तब लज्जा न आई? ओ स्वाधीनता के शत्रु! तेरे ही कारण देश पर दुर्दिन आया। तू ने ही मेवाड़ का नाश करके मुझे सन्तानहीन बनाया? बस, शस्त्र उठा, वार सम्हाल।

(तलवार निकालकर वार करता है)

महावत०—(तलवार से तलवार को रोक कर) गोविन्द सिंह जी! गोविन्द सिंह जी !!

गोविन्द०—मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। बस, मारूँगा या मरूँगा।

(गोविन्द सिंह पैतरा बदल कर आक्रमन करना चाहते हैं, पीछे से गजसिंह आकर खंजर मार देता है)

महावत खाँ—हैं, यह क्या ? यह क्या ? गजसिंह तुमने यह क्या किया ?

गज०—वही जो इसके योग्य था।

महावत०—अदूरदर्शी ! तुमने आज बड़ा अनर्थ किया ? जानते हो यह कौन हैं ?

गज०—कोई डाकू होगा।

महा०—अफसोस !

गोविन्द०—(मरते मरते आवेश में थोड़ा सा उठ कर) नराधम ! डाकू कौन है, संसार के दर्पण में आँखें खोल कर देख। दूसरों का राज्य लूटने के लिये आकर मुझे डाकू बताता है। विजातियों का पाँव चूमने के लिये जाति का ध्वंस करके मुझे लुटेरा कहता है। ओ देश के दुश्मन आह...अजय .अजय. . ।

(गोविन्द सिंह मरजाते हैं, महावत अफसोस करता है, गजसिंह सर झुकाये चला जाता है)

मार्ग।

(अरुण सिंह का कई स्त्रियों के साथ गाते हुए प्रवेश)

सब— गाना।

धर्म देश है, कर्म देश है, देश को भूल न जाओ।
सच्चे हो संतान देश के, काम देश के आओ॥
देश-प्रेम वह कल्पवृक्ष है जिसके उज्ज्वल फूल हो तुम।
तन मन धन सब अर्पण करके माता-मान बचाओ॥
देश का दुर्दिन है कठिन दिन, कर दो वीरो! सब
छिन्न भिन्न।
जन्म सुफल है देश-भक्ति में जननी पर बलि जाओ॥

(गजसिंह का कई मुगल सिपाहियों के साथ प्रवेश)

गज०—बाँध लो, बाँध लो। शाही ठोकर से ठुकराये हुए इन गीदड़ों को लोहे की रस्सी में बाँध लो।

अरुण०—ठहरो, अपने अन्याय की ज्वाला में बेकसूरों की आहुति न दो। कैद करने के पहले मुझे मेरा अपराध तो सुना दो!

गज०—इससे बढ़कर अपराध क्या होगा, कि तुम लोग स्वदेश का गीत गा कर अराजकता फैलाना चाहते हो। शाह के विरुद्ध यहाँ की सोई जनता को जगाना चाहते हो।

अरुण०—कभी नहीं। हमारे गीतों में विद्रोह की ज्वाला नहीं,

दुःख की ठण्डी सांस है। यह द्रोह का जोश नहीं, हमारे दिल की आह है।

गज०—लेकिन ऐसी आह को भी बिला शाही हुक्म के तुम नहीं सुना सकते।

अरुण०—महाशय ! जब दासत्वके भोजन का गुलामो के दिल में इतना खयाल हो, तो मुझे क्यो न अपनी माता से बिछुड़ने का मलाल हो ?

हिदायत०—लेकिन जिन आवाजो को शाही हुक्मनामे ने अपने यहाँ कैद कर रखा हो, उनको अपनी ज़बान से बाहर करना शाहीकानून को तोड़ना है।

अरुण०—हिदायत खाँ ! अगर शाहीहुक्म बजाना तुम्हारा कर्म है तो देश और जाति पर आँसू बहाना हमारा धर्म है।

हिदायत०—नहीं, तुम ऐसे आँसू जिनसे हमारे तौहीनी की चिनगारी उड़े, यहाँ नहीं बहा सकते।

अरुण०—क्यों ?

गज०—मेरी आज्ञा है।

अरुण०—तुम्हारी आज्ञा कुछ ईश्वर की आज्ञा नहीं।

गज०—मैं शाही हुक्म देता हूँ।

अरुण०—तुम्हारी शाही आज्ञा मेरे शरीर को बंदी कर सकती है, मेरे मन की ममता को नहीं मिटा सकती।

गज०—देखो, विजयी शाह के विरुद्ध चलना, अपने लिये जेल का रास्ता बनाना है।

अरुण०—मैं भी कहता हूँ, जब मेवाड़ ने शाह के सामने सर झुका लिया, तो मेरा शाह के साथ कोई झगड़ा नहीं रहा। लेकिन देश के लिये हम रोना बंद कर दें, यह कभी नहीं हो सकता।

गजसिंह—बस, बस, मौन हो जाओ। काग़ज की नौका को विक्षुब्ध सागर में न तैराओ।

हिदायत०—हमारे रहम से मुँह मोड़कर अपने ऊपर आफ़त न बुलाओ।

अरुण०—क्या तुम्हारी गुलामी में इतनी समझ भी न रही, कि माँ से बच्चे को अलग कर सकते हो, पर बच्चे के हृदय से माता के प्रेम को नहीं दूर कर सकते?

गजसिंह—बस, जबान बन्द करो। अपनी बकवासों को अँधेरी कोठरी के लिये रख छोड़ो।

अरुण०—शोक—

बोलने भी देते नहीं, क्या जुल्म है बेदाद है।
देश का दुर्दिन है यह, भाई बना जल्लाद है॥
कष्टों में भी 'हाय' करना है मनाही न्याय की।
आँसू बहाना जुर्म है कह रहा जल्लाद है॥

गजसिंह—सिपाहियो! कम्बख़्तों को बंदी कर लो।

अरुण०—(तलवार निकाल कर) बस, सावधान! यदि अपने प्राणों की रक्षा चाहते हो तो आगे क़दम न बढ़ाना।

हिदायत०—बेवकूफ लड़के! अपनी शामत न बुला। रास्ते के कीड़े होकर कुचले जाने के लिये सर न उठा।

अरुण०—जा, जा, यह बन्दर घुड़की किसी दूसरे को सुना।

हिदायत०—सिपाहियो! क्या देखते हो। इसे भी मौत के घाट लगाओ।

(हिदायत अली सिपाहियों के साथ वार करता है, अरुण पैतरा बदलकर सब के वार को बचाता है)

स्त्रियाँ—हा ईश्वर! पशुता के झोकों में कितनी भीषण ज्वाला है। रोने भी देते नहीं जालिम मुख मे देते ताला हैं।

महावत खाँ—(आकर) बस ख़बरदार! (सबका रुक जाना)

गजसिंह—कौन खां साहब?

महावत खां—शर्म करो। गजसिंह! धर्म का नही, अपनी क़ौम का नहीं, तो अपने नाम की शर्म करो। एक बालक पर तीन तीन आदमी मिलकर वार कर रहे हैं और ऊपर से तुम उनकी मदद करते हो?

गजसिंह—ये बाग़ी है।

महावत खां—हाँ, मैं यह जानता हूँ कि अपने हाथ से अपने घरों मे आग लगाकर, उसका धुँआ देखने में तुम्हें सुख मिलता है।

गजसिंह—खाँ साहब! अब यहाँ के सिपहसालार शाहजादा खुर्रम हैं। आप मुझे नहीं रोक सकते।

महावत खाँ—ओ हिन्दू कुलघालक! गंगा के जल से अपनी प्यास बुझाकर उसे अपवित्र कहते लज्जा नही आती? विजातियो के टुकड़े पर इतना गर्व?

गजसिंह—खाँ साहब ! जबान रोकिये । अब वह समय गया, जब कि मैं आपकी बातें सहन करता था ।

महावत खाँ—गया नहीं है और रहेगा। जिसके दिल में इन्सानियत का खयाल है, वह मुसलमान होने पर भी नेकी और रहम को नहीं भूल सकता।

गजसिंह—यह बाग़ियो की तरफदारी है ।

महावत खाँ—लेकिन इन्साफ़ का खून नहीं ।

गजसिंह—शाही काम मे खलल अन्दाजी है ।

महावत खाँ—पर शैतानियत का जनून नहीं ।

गजसिंह—लेकिन मैं विद्रोहियों को नही छोड़ सकता ।

महावत खाँ—किसकी मजाल है जो इन पर हाथ उठाये ।

गजसिंह—हिदायत अली ! मेरे हुक्म से इन सबो को गिरफ्तार कर लो ।

महावत खाँ—(तलवार निकाल कर) चुप नाबकार ! देखें जो आँख क्रोध से उस आँख को फोड़ दूँ । उठे जो हाथ इस ओर को उस हाथ को तोड़ दूँ ।

शाहज़ादा—(आकर) खाँ साहब ! जाने दीजिये, इनकी बेवकूफी पर गुस्सा न करिये । गजसिंह, तुम राजा हो, रय्यत के सर के ताज हो । तुम्हारा दिल पत्थर की तरह सख्त नहीं, मोम की तरह नर्म होना चाहिये ।

गजसिंह—शाहज़ादा साहब ! ये बाग़ी अपने गानों से बगावत फैलाना चाहते हैं ।

शाहजादा—हाँ, मैंने भी उस गाने को सुना। लेकिन उसमे बग़ावत की बू नहीं, मायूसी और ग़म की खुशबू है।

गजसिंह—ऐसे ही गानों से सल्तनत के अमन अमान में खलल पड़ता है।

शाहजादा—कौन कहता है। मुग़लों के सल्तनत की दीवार कच्ची मिट्टी से नही बनी है, जो ऐसे गानो की बरसात से गिर पड़े। उसका पाया हिन्दुस्तानियों की गहरी मुहब्बत पर कायम है जो कि हमेशा क़ायम रहेगा।

गजसिंह—शाहज़ादा साहब! बीज से ही दरख्त लगता है और बड़ा होने पर वही दरख्त ज़मीन की तह को तोड़ देता है।

शाहजादा—लेकिन दरख्त की खिदमत गुजारी और मुहब्बताने बर्ताव पर इन्सान और हैवान दोनों रोते हैं। जो दिल के छोटे अक्ल के अंधे हैवान हैं, उन्हीं के ऐसे गन्दे ख़्याल होते हैं।

गजसिंह—गन्दे ख़्याल ?

शाहज़ादा—बेशक! यह मेवाड़ क्या, अगर वतन परस्ती के गाने से सारे हिन्दुस्तान से हमारी हुकूमत उठ जाय, तो उठ जाने दो। लेकिन किसी के मुल्क की परस्तिश मे, वतनी मुहब्बत में, दख़ल न दो। सल्तनत मुहब्बत का दरख्त है, बेरहमी का सवाल नहीं। इसमें रय्यत के मीठे फल लगते हैं, दुश्मनी का ख़्याल नहीं।

गजसिंह—अफसोस !

शाहज़ादा—बस, अगर इज्ज़त आबरू को नहीं गवाँना चाहते हो तो मेरे सामने से चले जाओ। गाओ बहिनों! अपना

वही गाना गाओ। अगरचे इस वक्त मेवाड़ में इस गाने के सुनने वाले लोग नहीं हैं, लेकिन मैं उसे सुनूँगा। तुम लोगों के साथ तुम्हारे मुल्क की पुरानी अज़मत पर मैं आँसू बहाऊँगा।

सब—ईश्वर! आपके दिली मुहब्बत को क़ायम रक्खे।

(गाते हुए अरुण वगैरह का एक तरफ और महाबत खाँ तथा शाहजादा का मय सिपाहियों का दूसरी ओर जाना।)

नदी-किनारा।

[कल्याणी का शोकातुर गाते हुये आना और मानसी का समझाना]

कल्याणी— गाना।

विपत्ति बधन मे यों फँसी कि स्वांस तक भी न पा सकूँ मैं।
चली गले पै जुल्म की छुरी न आह तक भी उठा सकूँ मैं॥
मुझे विधाता ने भी विसारा सभी के आखों से गिरगई हूँ।
मुझे मिलाया है धूल में, क्योंकि सामने अब न आसकूँ मैं॥
बनाए ऊँचे पर थे महल जो, वे खाक मे आज मिल गये हैं।
वही चमन है अब आज उजड़ा कि याद के गीत गा सकूँ मैं॥

मानसी—बहिन कल्याणी! धैर्य धरो। अब इस दुःख को हिंसक जंतु की तरह बांधकर अपने वश में करो।

कल्याणी—बहिन! बाल्यावस्था में जिसके ध्यान ने मुझे बड़ा किया, यौवनकाल में जिसे मैंने अपने जीवन का ध्रुवतार बनाया, उसका दुःख हृदय मे चिता की भाँति जल रहा है।

मानसी—इसलिये कि मनुष्य में विश्व-प्रेम की आराधना नहीं है।

कल्याणी—विश्वप्रेम?

मानसी—हाँ विश्वप्रेम प्रतिदान नहीं चाहता, वह मनुष्य में, समाज मे, योग्य और अयोग्य मे, एक भाव चाहता है। वह आकाश-कुसुम के मृगतृष्णा को नहीं देखता, केवल सेवा करके सुखी होना जानता है।

कल्याणी—हा दुर्दिन! तू ऐसा रुष्ट हो गया, कि देश और कुल दोनों डूब गया।

मानसी—कल्याणी! देश का दुर्दिन तो उसी समय से आगया, जब से इस जाति में क्षुद्रता, भ्रातृद्रोह और विजाति-द्वेष का जन्म हुआ।

कल्याणी—हा उदार हिन्दू-धर्म! तेरी जाति मे ऐसा पाप फैल गया?

मानसी—बहिन! जो जाति—नैतिकबल से, चरित्रबल से शक्तिमान न हो; दुःख में, निराशा मे, आँधी के अंधकार में मनुष्य-प्रेम को न अपना सकी, उसका नष्ट हो जाना ही अच्छा है

कल्याणी—क्या कहती हो जाति नष्ट हो जाय और हम तुम चुपचाप देखा करें ?

मानसी—बहिन, जिस प्रकार स्वार्थ की अपेक्षा जातियता बड़ी है; उसी प्रकार जातीयता की अपेक्षा मनुष्यत्व बड़ा है। अच्छा है यदि मनुष्यत्व विहीन देश, जाति, डूब जाय और फिर से वह मनुष्य बन जाय।

कल्याणी—क्या ऐसा भी सम्भव है ?

मानसी—उच्च साधना से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। जिस दिन लोग आचारों के क्रितय दास न रह कर, स्वय विचारना सीखेंगे, पुरानी पोथियो को फेंक कर नया धर्म ग्रहण करेंगे, उस दिन अवश्य मनुष्य बन जायेंगे।

कल्याणी—नया धर्म ?

मानसी—हाँ, उस धर्म का नाम है विश्वप्रेम। जो इस धर्म की आराधना करता है, वह सब कुछ भूलकर भी मनुष्य से प्रेम करने लगता है। फिर ईश्वर का अज्ञेय नियम स्वयं उसके भविष्य को सुधार देता है। महात्मा चैतन्य देव का पथ, उसे अपना अनु-गामी बना लेता है।

कल्याणी—तो चलो बहन ! अब हम लोग भी संसार मे उसी प्रेम को जागृत करें।

मानसी—और अपनी सेवा से सूखते हुए उपवन को हरा करें।

(दोनों का जाना)
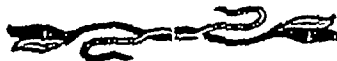
मंत्रणा भवन।

[राणा अमरसिंह का शोकातुर प्रवेश]

राणा०—आह ! आज आकाश क्रोध से गरज रहा है, सरोवर क्षोभ से उमड़ा आ रहा है। पहाड़ लज्जा से मुख ढापे हुए है, वृक्ष-पल्लव आँसुओं की धारा बहा रहे हैं। पूर्वजों की विभूति और यश धूलि में मिल गयी। अपने हाथों प्रिय मेवाड़ का अन्त होगया।

महावतखाँ—(आकर) मेवाड़ के राणा की जय हो।

राणा०—बस बस, सिपहसालार साहब ! लहू की नदी बहा कर उसमें व्यंग के छींटे न उड़ाओ।

महावत खाँ—राणा जी ! व्यंग नहीं, मैंने सत्य कहा है।

राणा०—यह सत्य है? हाँ हाँ कहो, मैंने भी तुमसे कहने ही के लिये तुम्हें यहाँ बुलाया है।

महावत खाँ—क्या आज्ञा है ?

राणा०—महावत खाँ ! तुम हमारे कौन हो ?

महावत खाँ—मैं आपका भाई हूँ।

राणा०—और भाई का यह कार्य भी था, कि अपने पूर्वजों की भूमि को मुगलों द्वारा पद-दलित करा दिया जाय ?

महावत खाँ—आप जानते हैं कि मैंने शाह का नमक खाया है।

राणा०—ठीक है, जभी मेवाड़ के साथ उस नमक को अदा किया ?

महावत खाँ—राणा जी ! यद्यपि मैंने तलवार चलाकर, आग लगाकर-मेवाड़ भूमि को श्मशान बना दिया, किंतु अन्याय-युद्ध नहीं किया ।

राणा०—क्या इससे बढ़कर अन्याय और कुछ होगा, कि एक चिनगारी को बुझाने के लिये महासमुद्र उमड़ आये ? मुट्ठी भर सैनिकों पर साम्राज्य की विपुल सेना चढ़ आये ? चींटी को मसलने के लिये हाथी का पाँव ! बालक की आत्मा पर नरक का दुःस्वप्न ?

महावत खाँ—राणा........।

राणा०—चुप रहो महावत खाँ ! मैं तुमसे वादा विवाद नहीं करना चाहता। जो धर्म का घातक और विजाति का सेवक हो, वह अनुचित को भी उचित कह सकता है ।

महावत खाँ—मुझे अपने कृत्य पर शोक है ।

राणा०—नहीं, नहीं, हर्ष के शिखर पर नाचते हुए मन को भाई के दुखद सागर में न डुबाओ। विजय और गर्व से उठे हुए मस्तक को लज्जा से न झुकाओ। बस, जिन हाथों से मेवाड़ को उजाडा है, मेरा भी अन्त कर दो। भाई के प्रेम-वृक्ष को जड़ सहित उखाड़ कर फेंक दो ?

महावत खाँ—नहीं नहीं, राणा ! मैं इतना हीन नहीं हूँ।

राणा०—महाबत ! प्यास से मरते हुए मनुष्य की तृष्णा बातों

की कोमलता से नहीं, जल से बुझती है। घर मे आग लगाकर, 'बुझो बुझो' कहने से अग्नि नहीं शांत होती है। बस तलवार निकालो और हमारा बध करो।

महावत खाँ—राणाजी ! यह काम योद्धा का नहीं, जल्लाद का है।

राणा०—किन्तु जल्लाद भी नाम से नहीं दुष्कर्म से कहलाता है। वह जल्लाद और पिशाच दोनों है, जो अपने हाथों अपना घर जलाता है। मैं ऐसे अधम को, ऐसे नरपिशाच को कभी नहीं छोड़ूँगा। तलवार निकालो, बस मारूँगा या मरूँगा।

स्नेह वह उठजाय जहाँ भाई का काल हो।
देश वह लुट जाय जहाँ द्वेष का भौचाल हो॥
संसार वह छुट जाय जहाँ दुष्टता की चाल हो।
परिवार वह मिट जाय जहाँ शत्रुता के ख्याल हो॥

महावत खाँ—मैंने मेवाड़ के विरुद्ध शस्त्र उठाने की सौगन्ध खाई है।

राणा०—सौगन्ध उनके लिये है जिनके मनमें प्रतिष्ठा का ध्यान है। प्रतिज्ञा उनकी आँखें नीची करती हैं, जिनमे आत्मगौरव का सम्मान है। भीरु ! म्लेच्छ ! तलवार निकाल ?

महावतखाँ—राणा ! राणा !!

राणा०—बस, सावधान ! आज मृतक मेवाड़ का शव कन्धे पर लेकर मैं तुझे ललकारता हूँ।

(तलवार निकाल कर मारना चाहते हैं)

महावतखाँ—सुनो सुनो।
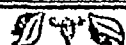
राणा०—कुछ नहीं। नरक के कीड़े! वार कर। आज देव दानव का युद्ध है! मुझे भी देखना है कि पिशाच कहाँ तक बलवान है। आज भाई भाई का युद्ध है, प्रलय का संग्राम है।

गिरो आकाश से तारों कि जातिय धूप ढलती हैं।
बन के शत्रु भाई पर भाई की खड्ग चलती है॥

महावतखाँ—जब यही होना है तो आ जाव।

राणा०—ले वार बचा।

महावतखाँ—तूभी सम्हल जा।

[दोनों का तलवार निकाल कर लड़ना, मानसी का सन्यासिनी भेष में आकर रोकना]

मानसी—यह क्या? पिताजी! यह क्या!!

राणा०—हट जा बेटी! तू इसमे बाधा न डाल।

मानसी—नही, नहीं, शान्त होइये। जो सर्वनाश होगया है उसे भाई के रक्त से रञ्जित न करिये।

राणा०—नहीं, आज द्वेष के संसार मे महाप्रलय है।

मानसी—पिताजी! इस शोक की सान्त्वना हत्या नही, फिर से मनुष्य बनना है।

राणा०—मनुष्य बनना?

मानसी—हाँ। विद्वेष को त्यागकर, शत्रु मित्र का ज्ञान भुला दीजिये। अपनी और देश की कालिमा को विश्वप्रेम के जल से धो दीजिये।

राणा०—विश्वप्रेम?

मानसी—हाँ, सेवा का ईश्वरीय अखंड नेम, हमारी उन्नति का विकाश, रक्त की नदी बहाने से नहीं, समस्त संसार को भाई मान कर गले लगाने से है। कूटनीति और स्वार्थ को त्यागकर विश्वप्रेम का प्रदीप जलाने से है। अपने पराये का भाव त्यागकर सेवा के सूत्र में बँध जाइये। हिंसा और द्वेष को त्यागकर भाई को गले से लगाइये।

शाहजादा— (आकर)

न होवे द्वेष की वर्षा न जातिय मे बुराई हो।
हम तुम तुम हम दुनिया में दोनो भाई हों॥

राणा०—महावत! महाबत!! तुम्हारा कोई दोष नहीं......

महाबतखाँ—नहीं नहीं महाराणा! मैं मेवाड़ का दोषी हूँ। आपका अपराधी हूँ। मुझे क्षमा करो!

राणा०—प्रिय भाई! तुम मुझे क्षमा करो।

शाहजादा—राणा जी! शाहंशाह के दिये हुए इस भेंट को स्वीकार करो।

(शाहजादा राणा के गले में जयमाल पहनाते हैं)

सीन-परिवर्तन

(सन्यासिनी के भेष में कल्याणी
"एकता का झंडा" लिये हुये इत्यादि का
सब—विश्व-प्रेम-मानस में वनि के मराल हम—
क्षीर नीर एकता-मुक्ता को चुनते रहें।
विधकर एकता सुवाश में विहार करें—
राग, द्वेष, तजि के भ्रातृ राग सुनते रहें॥

ड्रापसीन।